राधा

६

प्रभास पर्व

७

उत्सर्ग पर्व

आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री

© श्रीमती छाया देवी

निराला निकेतन
आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री पथ
मुजफ्फरपुर—842 001

सुप्रसिद्ध विदुषी कवयित्री बहन
श्रीमती मल्लिका अहलुवालिया

को

सस्नेह भेंट

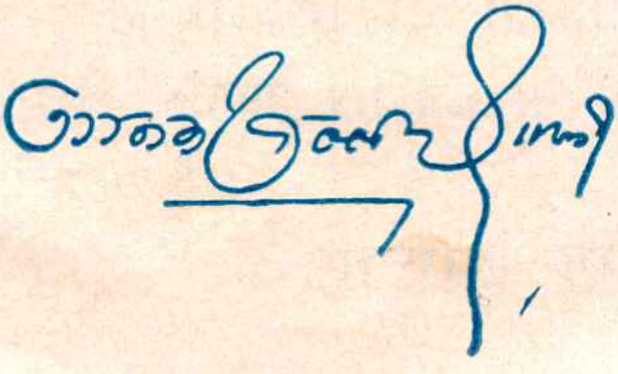

मैं आचार्य श्री जानकीवल्लभ शास्त्री को हिन्दी का एक मात्र वश्यवाक् कवि मानता हूँ। हिन्दी में ही नहीं, समग्र भारतीय वाङ्मय में 'राधा' अन्वर्थनामा महाकाव्य है। शताब्दियों बाद हिन्दी में शब्द-ब्रह्म अपनी सहज शक्तिमत्ता प्राप्त कर चरितार्थ हुआ है।

—आचार्य सत्यब्रत

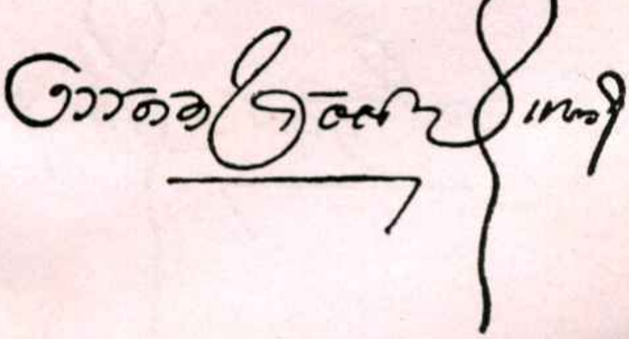

राधा

६

प्रभास पर्व

*

वेदो वैद, पुराणं गानं नृत्य स्मरति नित्यम्
कलयन्ति कान्तिकान्तं पञ्चजना ऽ पाञ्चजन्येन ।

दयमानो ऽदय उद्यद्वरदकरश्शप्त-तप्त-पदः
तीर्थे, ह्रदे, प्रभासे न्यस्तप्रज्ञो हरिर्जयति ।

निरुपधि कृपाश्रयत्वाद् योगकलाऽ चिन्त्यसद्भावात्
शाश्वतिकं श्रेयो मे दिशतु मुकुन्दः सदानन्दः ।

व्यक्तसमस्तो ऽव्यक्तो ऽ बलं द्रढिम्नोद्धरन्नित्यम्
भावग्राह्यो गाह्य स्तरन् तरङ्गे ऽन्तरङ्गाब्धौ
निःशेषयन्नशेषं त्रिविध सन्देह-सन्दोहम्
नन्दयशोदानन्दं वन्दे मन्देहगोविन्दम्

प्रयच्छति यथाकामं प्रकामं ज्योतिरीश्वरः
मेघमेदुरितानन्ताद् व्यपसर्पतु मे भयम् ।

× × ×

स्वल्प सलिलमादत्ते भानुरास्तीर्य्य यत् करान्
ख्यापयत्येव तल्लोके दातुरादानकौशलम् ।

ऊषर घ। धूसर सन्ध्या के छाए वृन्दावन पर
नीला चाँद झाँकता झुरमुट-झुटपुट से रह-रह कर

फैलाए है पंख चकोरी अब भी नभ छूने को
ही-तल की ऊष्मा से भरने अति शीतल सूने को

मलिन पुलिन यमुना के नीरव, सैकत आतप-तपते
सायँ-सायँ करता तमाल-वन, जर्जर-तन तरु कँपते

पथ चल-चल कर थके-थके ललिता के पिता बताकर
—कुशल कृष्ण की, चले गए घर कुछ अछता-पछताकर।

कुशल-क्षेम! ललिता के प्रेमल प्राण विकल हैं होते
टेढ़ी साँस-साँस में सीधे बोल उसाँस पिरोते।

क्षेम-कुशल! जब भूल गए गोपाल स्वजन-परिजन को,
प्रीत-गीत ही भूल गया मन, दी क्यों गन्ध सुमन को?

क्षेम-कुशल! हिलकोरे राधा, तो मैं क्या कह सकती?
तट-बैठा मझधार-भँवर-आह्वान न वह सह सकता!

क्षेम-कुशल सुन सिर धुन लेगी या सँभाल अपने को?
एक सत्य कटु मान सकेगी जीवन के सपने को!

क्षेम-कुशल! शुभ समाचार! वृन्दा में धूम गई मच
ललिता बतिया आई घर-घर घूम-घूम जो था सच;

रेतीला था पाट, बरस रस आई डुबो किनारे;
बांह उठा कर छांह रहे कर सिर पर श्याम हमारे!

आँखों के पानी से पिघले कौस्तुभ हृदय न जिनके
क्षेम-कुशल का नेम निबाहा उनने प्रेरे किनके ?

जगर-मगर के अभ्यासी को स्मृति आई कानन की,
चहुँ दिशि भरे चाँद-तारों में भी सूखे आनन की !

आंखें देख नहीं पाती हैं जिनमें रसे-बसे तुम,
यह विडम्बना मुक्ति-माल की, जिसमें रहे फँसे तुम !

आँचल बिछा समेटा उर में, वह नभ की छाया थी ?
दी पहचान तुम्हारी जिसने, ज्ञान नहीं ? माया थी ?

भूले बिसरे वन-उपवन की किसने याद दिलाई !
बाढ़ उमड़ आई छिछले में, यह किसकी गरुआई !

गहन तुम्हारे मन का स्पन्दन, राग-मालिका गाई—
उत्कट विह्वलता में, राधा ने ली क्या अँगराई ?

लहर-उछाला नील कुहासा द्वार'-सिन्धु पर छाया,
किसकी स्मिति से छँटा कि आँगन-घर हो नया सुहाया ?

मचल उठा मन, पवन-झकोरा फिर रँग गया किरण से ?
रहा न कोरा बहुत अगोरा था अनिमेष नयन से !

बिखर गए दल-बादल झालर बने झलाझल मुख की,
सुधि संगति बैठाती; परछाईं किसके सुख-दुख की ?

क्षेम-कुशल-सवाद किसी विधि आया उड़ता-उड़ता,
जितने मुँह, उतनी बातें, सच वचन सिकुड़ता-मुड़ता :

—"धर्मक्षेत्र में कृष्ण रहे कर यज्ञ द्वारका से आ
देश-देश के नृप आमन्त्रित ऋषि-मुनि मन्त्रित-मेधा

धीर-वीर ज्ञानी ध्यानी, एकत्र हुए हैं सारे,
अवनि गगन हो रही, चमकते दिन में अनगिन तारे !

ग्रह-उपग्रह आकाश-निवासी याद उन्हें रवि-चन्दा
उतर गई सुर से तन्त्री-उर-चढ़ी घड़ी भर वृन्दा !

कौन मन्त्रणा देता: क्यों बन को देते आमन्त्रण ?
गऊ चराने वालों पर रख सकता कौन नियन्त्रण ?

हृदय डूबने लगता: हमसे ऊब गया होगा मन,
वन्य, अधन्य, असभ्य आज भी हैं हम पूर्ण पुरातन !

क्या कम हो जाता, बढ़कर हम सब को हुलस बुलाते ?
मग चलते, पग उमग उछलते, कुछ क्षण आते-जाते !

भर भरपूर दिया द्वारा को वृन्दा को रीता कर,
कितनी घुली मिठास, हुआ जी खट्टा, मुँह तीता कर !

मैत्री प्रेम खोजते हैं आदान-प्रदान जगत् में,
कहाँ शान्ति-सुख मिले अनाहत सुर या उर आहत में ?

हम किसका अनुकरण करें अपनी समृद्ध संस्कृति तज ?
स्वस्थ और दृढ़ जिसकी जड़ है जो जल-तल की नीरज !

तुमने किरणें बहुत बिखेरीं, देश रहा पर अन्धा
एक दूसरे को देते उपदेश हो गया धन्धा !

जल की विमल गोद में जैसे खिलते कमल सहज ही,
वैसे हम ले जनम रहे, वन-सुमन नियति है रज ही !

बाँध प्रवाह अचिन्त किनारे; गति है उनके बस में ?
करती हैं विद्रोह तरङ्गें : न हो मगन सम रस में !

टेक थकी सिर मर्म-गुँथी वेदना, न पहुँची छाया,
तुलसी का चौरा बौराया, किसने रंग चढ़ाया !

नाम तुम्हारा ही पुकार कर चरा रहे जो गैया;
बजा रहे बांसुरी : कहाँ हो प्यारे कृष्ण कन्हैया ?

तुम कुछ से कुछ हुए अकेले, वह तो वही-वही हैं
उन्हीं डगर चल बेचा करती सखियाँ दूध-दही हैं !

एक बार कर याद उन्हें लेते, सब दुख बिसरातीं,—
ठंडक से ठिठुरी-सिकुड़ी सुलगा अलाव पा जातीं !

प्रेम रहा न हृदय में, मुँह से आदर दे सकते थे,
झांझर-नाव-चढ़े को प्रोत्साहन-स्वर दे सकते थे !

बिसरे बरस हुए; कितने दिन, पल-छिन गिन डाले हैं,
अनपढ़ अपढ़ तुम्हारे ही सारे गोपी-ग्वाले हैं !

हम तो बिना बुलाए आएँगे. आगे तुम जानो,
मानो, मत मानो. ठुकरा दो, आँख पोंछ पहचानो !

सहम-सिसक कह व्यथा कथाएँ अपने निर्जन मन की
हल्की चली बांटने करुणा रोते रिसते घन की !

मातु यशोमति लपक लिपट ललिता से गईं लपट-सी
बाँहें डाल गले में उलझीं डालें पीपल-वट की !

ऊदे-भूरे केश यशोदा के; ललिता के काले —
तुलित गगन से होते, रंग-बदलते-बादलवाले !

ग्रीष्म हृदय में, पावस दृग में, मुँह पर शरद सलोनी,
हेम-शिशिर निष्पन्न; अनागत वासन्ती अनहोनी

फिर से आँखें भरीं, हृदय हरसा, आशा हरिआई,
यह संवाद नहीं छलना; चलना प्रभास बरिआई।

ललिता बोली हुलस: नन्द बाबा को भी कह आऊँ,
आगे आगे हँसी-ठहाके, पीछे नीर बहाऊँ !

'ज्ञान-प्रधान देश अपना है, सपना-सा जग सारा
बिन्दु-सिन्धु मे इसे नहीं अन्तर, सुख दुख का मारा !

कर्म भोग तो कर्मयोग से भी न कभी टल सकता,
जो होना है वही हो रहा, कौन किसे छल सकता !

अपना धर्म निभाते जीना मरना अच्छा होता
अपना कर पर-धर्म दम्भ से नर पछताता-रोता !'

—कुछ ऐसे ही सत्य सनातन में कि नन्द जीते थे,
पर-हृत अमृत सहज तज कर घर का गोरस पीते थे !

डैने फैलाते न कभी ऊँची उड़ान भरने को,
फड़की बांह न कालिन्दी की भांति सिन्धु तरने को !

अर्ध रात्रि का मौन हो कि कोलाहल साँझ-सकारे
गृह-गृहस्थ के कर्म-धर्म में जुटे रहे मन-मारे !

गर्वीली सुन्दरता कर्मठता की स्वर-रेखाएँ
अलिक फलक पर खिंची रहीं लहरें ले दाएँ-बाए

घुटते – घुटते – से भावों के, छितरे-से अब्दों के
पल-छिन में बिखरे जीवन के सिमटे-से शब्दों के—

समाहार-से, सदाचार से उज्ज्वल मुख-मण्डल पर
उतर रही आभा चरमाचल की विह्वल जल तल पर

हुङ्कारें जो सुनीं, धेनुओं की; न किसी द्वेषी की !
दबी-घुटी ध्वनियाँ न पड़ोसी या छिद्रान्वेषी की !

नीरवता न सही दुश्चिन्ता से आहत अन्तर की,
बड़बोलापन रुचा-जँचा न, कला जन्तर मन्तर की

उद्गारों से हुलसे हृदय-समक्ष न टिकी भयाकुल,
गति ठहरी न कभी पड़ाव पर, जाती लक्ष्य-दिशा खुल

भावहीन टकटकी बँधी न कभी दुविधा में पड़कर
अन्तस-तमस उखाड़ फेकता सिर थिरता में गड़कर

कर्म-धर्म ने भर हार्दिकता स्वर्ग रचा था घर में
शक्त चित्त अनुरक्त वित्त में रहा न, कर आकर में !

दिया मुक्त-मन, लिया नहीं प्रतिफल-लोभी इस जग से,
एकनिष्ठता डिगा न पाई जिसे समादृत मग से !

टाल जाल चिन्ता दुरन्त की बैठे नन्द दुआरे,
ललिता ने संवाद सुनाया जब, सब और बिसारे,

पूछा : हमें बुलाया है क्या ? आया नहीं बुलावा ?
तब अदृश्य आनन्द रहे, लड्डू फूटे या लावा !

कहकर करवट बदल गए फिर लेट मोड़ घुटनों को;
अपने मन से सुलझ रहे जो, उलझाते न जनों को !

बिना बुलाए कहीं न जाना, अपना यह सिद्धांत,
सीधे पथ पर पड़ी हुई चट्टान अनन्त कि सान्त !

है सिद्धान्त नहीं बँटता, हों अपने या कि पराए,
मान्य प्रमाण जिसे न लोक का, कहीं कि आए-जाए !

यह परिचय निश्चय का अंकित शिलालेख धुंधला-सा
वचन अन्यथा हो न सकेगा, तज दो मेरी आशा !

दृष्टि घुमाकर फिर बोले : दूरियाँ जोड़ती रहती,
पूछ यशोमति से देखो, इस निर्णय पर क्या कहती !

दीर्घ श्वास घुटता प्राणों में, गानों में बचपन के —
भूले-बिसरे वह आते स्वर जिसके नटखटपन के !

सब शिशुओं का देख-देख मुख क्या सुख हँसमुख पाती
निँदियारे नयनों से अनुभव करती : उमगी छाती !

भरे अनंत क्षमा जिसकी सुधि में छिछली हो जाती,
टोहो उसी यशोमति का मन, जब हँसती रो जाती !

आधी हँसी सलज, आधी बोली सहमी-सहमी-सी
जीवन भर रह गई छिपाए आग अधूम शमी-सी

किरण हृदय की कभी न छिटकी जिसके अरुण अधर पर
वन के किस कोने से सौरभ ले आती आँचल भर !

झिलती स्मित की नहीं यन्त्रणा, मन्त्रणा न हिमकण की,
बरजोरी की दाँत निपोरी, स्मृति शाश्वत बिछुड़न की

साधें रही सँजोती छिन-छिन, एक न सुनी किसी की
उसे धरोहर ही अगोरनी, लौकिक पिटी-घिसी की,

एक सही न गई कही-सुनी, ममता में सब भूली,
झिझको मत, पूछो, अब भी वह फिरती फूली-फूली !

'जिसका बेटा विश्व-विजेता वह माँ क्या भूलेगी ?
बड़ा बनाया पोस-पाल कर, बिन सींचे फूलेगी !'

—कहती हुई यशोदा प्रकटीं बाँसों के झुरमुट से
दमके दाँत कि मोती चमके ढुलक सीप-सम्पुट से !

बीत गई घड़ियों से जोड़े शुभ भविष्य की कड़ियाँ,
ज्यों मुड़ता जीवन-प्रवाह भर असमय घन की झड़ियाँ !

घिर आने तक घना अँधेरा तीर्थ-भ्रमण कर आएँ,
क्रीड़ा-कौतुक में श्रम का होगा न ध्यान : घर जाएँ !

शिव सुधांशु को रखते सिर पर, गरल गले के भीतर,
हम भी गुण ही करें प्रकाशित, अवगुण करें न बाहर !

अमृतपूर वच, दृग कपूर सच, ऊर्म्मिल श्यामल अलकें,
रूप अनूप हेरनेवाले की न झपकती पलकें !

एकवार फिर देख, रेख विधना की सविधि मिटाएँ,
लिखा बिछोह जहाँ कुलिशों ने. छोह वहाँ लिख आएँ !

वह घर अब भी खड़ा, गड़ा मिट्टी की गहराई में,
जिसमें दरस दिया आ सबको, कहलाई माई मैं !

हमें देख उसको सुधि आएगी, न भुलक्कड़ ऐसा—
पुष्पमाल्य को साँप समझकर भड़के लड़कों जैसा !

विषम-विषाद-मलिन-मन मैं आशा ही तो कर सकती,
दुबका है विश्वास, साधकर सांस प्रखर कर सकती !

छोड़ गया जो वह न भगोड़ा, है कर्तव्य-परायण,
पथ बतलाता जग को बनने का नर से नारायण !

की प्रतारणा नहीं, धारणा दी उठने की ऊपर,
अन्तरिक्ष में जो खोया है, लाने वह सब भू पर !

क्लेश-वेश में सुख का स्वागत किया, हुआ न विलासी,
बढ़कर लिया दुःख-ज्वाला को; वह विदग्ध विश्वासी !

यज्ञ कर रहा, यह ऐश्वर्य-प्रदर्शन का न बहाना,
स्वर्गारोहण-हेतु नहीं है यह सोपान बनाना !

स्वर्ग नहीं उसके ऊपर, पाँवों पर झुका हुआ है,
बिछुड़े हुए जनों से मिलने कुछ क्षण रुका हुआ है !

पूर्ण-चन्द्र-प्रतिमान ध्यान आनन का, विमल नयन का,
मुझे जिलाता स्मरण कँटीले वन में कुसुम-चयन का !

देह धरे का सुख, मुख वह देखेंगे फिर लोचन-फल,
सिद्ध तुम्हारा तप होगा; निर्मल कलिन्दजा का जल !

कैसे और अनामय पूछे ? स्वस्ति-कामना प्रकटे ?
अवधि भूलने की लम्बी की, नटखट माने कि नटे !

सौंह करेगा तो किसकी ? कोई क्या पतिआएगा !
भौंह सिकोड़, मोड़ मुँह, पहले-जैसा बतिआएगा !

उठो, गँवाओ और न जीवन, निद्रा-तन्द्रा तोड़ो,
मन-भाया आनन्द-छन्द, चिन्तन की माया छोड़ो,

होगा सञ्चित पुण्य, वही उस धाम पहुँच पाएगा,
पाँव ठिठकते ठाँव ठाँव, सिर थाम पहुँच पाएगा !

पहुनाई क्या, करनी होगी औरों की अगवानी,
अब विलम्ब क्यों ? संग-साथ झट चल दें दोनों-प्राणी !

गहगहा रही होगी अब तो यज्ञ भूमि ध्वनियों से
पथ महाजन से न बूझना, चौक नहीं बनियों से !

आँख-तले आता न और, किसके हम पाँव पलोटें,
तुम अगुआई करो, झेल लेंगे तन मन की चोटें !

नदी-किनारे अब हम दोनों ज्यों दो पेड़ खड़े हैं,
ऊपर से जैसे दिखते हों, जड़ से गले, सड़े हैं !

मोर-मयूर मेघ की धुन सुन नाच उठे हों जैसे,
उमड़ पड़ीं सूखी सरिताएँ सिन्धु-मिलन को कैसे ?

छोड़उष्ण उच्छ्वास यशोमति ने तिर्यक् दृग देखा:
खिंची नन्द के मुख पर भी क्या घनानन्द की रेखा ?

या मुस्कान उलझ ओठों में बुझी साँस-झकझोरी ?
नींद लगी आने, बलजोरी अँगराई श्रम-बोरी ?

लोल हिलौर उठी यमुना में, तरु-मरु-उर भर किसलय,
फुनगी-फुनगी चहक रहे खग, सुमन सीखते सुर-लय !

ऐसे में कैसे तुम गुमसुम हो मुँह फेरे लेटे,
एक बाल गोपाल हमारे, और कहीं हैं बेटे ?

चिहुँके नन्द, बोल सुन अनके, उठ बैठे ऊबे-से,
खोए-खोए-से सपने में, अपने में डूब-से !

आँखें आधी बन्द, खुली थीं आधी, चुप्पी साधे,
पलकों से उठते न स्वप्न थे, टूट रहे थे काँधे !

बाहर खुले ओठ थे, भीतर बन्द, बुदबुदाते थे,
इसी नन्द के घर नर का धर वेश अमर आते थे !

ऋषि-महर्षियों का पधारता था दल मंगलदाता,
सारस, हंस, चक्रवाकों का था मानस से नाता !

सूखे सब सर नहीं, किन्तु सोपान सभी के रूखे;
फल फूलो से लदे हुए तरु दिखते प्यासे, भूखे !

आस करे किसकी कोई ? विश्वास करे तो किस पर ?
क्या खोना सूखे रो-धोकर, क्या पाना हठ, रिस कर ?

सूनापन मन बना, सघन वन तन, झंखाड़ पुराना !
एक अकेलेपन को रह-रह छह रागों में गाना !

डाल-डाल में फूल खिल रहे, मगन गगन में चन्दा
इस एकाकी जीवन का क्या भाव चढ़ा, क्या मन्दा !

श्याम निशा में तारे चमके, मेरे दिन अँधियारे,
इनमें नाटा सन्नाटा पसरा तनकर फन मारे !

कालिन्दी के कल-कल जल में, मूक खड़े कूलों में,
मेरा कोई नहीं, अकेला फूले वनफूलों में !

रात-रात भर खिली चाँदनी, प्रात तुहिन-कण बनती,
धार गन्ध-मधु की फूलों के सदा धूल में सनती।

—अन्त अकेले का मेले में तो होगा न, वहाँ पर
ब्रज सारा उठ कर जाए रह लेगा नन्द यहाँ पर !

समय एक-सा रहा किसी का ? कैसे मेरा रहता ?
ऋतु चक्रों को रोक सभी दिन क्या मलयानिल वहता !

यही देखने को विधना ने क्या था स्वर्ग दिखाया ?
सौ आशा-पाशों से बँधने का अपवर्ग सिखाया !

यहाँ झाड़-झंखाड़ हमारे, कल्पवृक्ष हों जिसके,
सपने-से कदम्ब दिखते हैं; लोचन मधुवन किसके !

छाँह ललौंही झलक झुलसते निश्चय की-सी मन में—
उतरी एक, झुरझुरी अनुभव हुई नन्द के मन में !

उत्तर ? मूक निरुत्तर थे; दक्षिण ने हाँक जमाई,
पश्चिम वय में पूर्व-सदृश दृढता ऊँचे चढ़ आई :

"नन्द मन्दमति बिना बुलाए स्वर्ग भी न जाएगा,
वह न तुम्हारी चिकनी-चुपड़ी बातों में आएगा !

तुम आदर्श बघार रही हो, वह यथार्थ पर चलता,
रहीं अँधेरे में तुम, पर वह क्यों प्रकाश को छलता ?

उसके माता-पिता कौन हैं, चौड़े जान चुका है,
हम उसके लगते क्या हैं, मानी मन मान चुका है !

तुम जाना चाहो, जाओ, पर मैं तो बिना बुलाए०००"

× × ×

"होगा फँसा यज्ञ में, कैसे हमें बुलाने आए ?

"और सुनो, अपना बेटा जब भेजेगा आमंत्रण,
तब हम जाएँगे ? मिट जाएगा जग से अपनापन !

"यह अपूर्व कल्पना तुम्हारी, भाव-शून्य-सी भाषा
निरवधि आशा की सीमा, निर्मूल क्षुद्र अभिलाषा !

"सारा का सारा जग माँगे, रखे छिपाकर घर में,
सब को सब कैसे दे, ईश्वर बसे कहाँ नश्वर में ?

"क्षमा दया, जो उचित, करो; बेटे ने की लरिकाई,
परछाई-सी क्षमा तुम्हारी, दया तुम्हारो माई !

"बहुत प्रयत्न किए, बदला संस्कार नहीं अग-जग का,
क्षितिज दिखाए, पग आँके, बाँकापन गया न मग का !

"सुना हुआ विक्षुब्ध बहुत है, खो सन्तुलन दिया है,
पहुँचूँ तो पूछूँ : बेटे, बाना क्या बना लिया हैं ?

"पहले पहल चला कलिन्द से है क्या आज वही जल ?
कालिन्दी से पूछ, देख लो, क्यों कर निर्मल काजल ?

"था ब्रह्माण्ड खुला जिस दिन, उस दिन-सी रवि की आभा—
आज दीखती है ? सूरज रज भर केतक का गाभा ?

"जग बदले, मग बदले तुमने अपना काम किया है !
बाद राम के फिर अनाम को अपना नाम दिया है !

"त्याग आग में सीता को ढाली जो कंचन काया
उसे बिठा कर लोक-नयन में उनने यज्ञ रचाया !!

"तुम भी क्या कम, अपनी बृन्दा का शुचि प्रेम जलाया,
धुँआँ धुँआ कर भूमि-व्योम को यज्ञ-केतु फहराया !

"कुछ भी हो, संवाद मिला तो बरबस आना ही था,
ब्याह रचाए, नहीं बुलाया, जब कि बुलाना ही था !

"क्या है मन में, छन न सकेगा मेरे सम्मुख मुख से,
नटखट, तुम सब दिन रहस्यमय रहे, कटे सुख-दुख से !"

—'मैं यह सब मुँह खोल कहूंगी अपने कानों सुनना,
दोष उगल दूँगी सरोष-सी, फिर होगा गुन गुनना !

"नयन नीर धो दे न शब्द को, मैं रुखड़ा बोलूँगी,
उसके मुँह के भावों से अपने विचार खोलूँगी !

"आए तो रोते धरती पर, मरु में मोती बोते,
पथ में धूल उड़ाते निकले घोड़े रथ में जोते !

"देख न पाई विदा-क्षणों में, आँसू दृष्टि ढके थे,
सुना गोप ग्वालों से : 'तुम भी जाने को ललके थे !

"फिर दिन-मास-अब्द बीते; मैं एक शब्द भी बोली ?
गरल घोलने आए उद्धव, सबने करी ठठोली !

"मैंने आशीर्वाद दिया, माथे में चन्दन-रोली !
छाती पर पत्थर रख मैंने मां की ममता तोली !

"क्या न कहूँगी ? देह झाड़कर पहले तुम उठ जाओ,
जो भी जाना चाह रहे हों सबको यहाँ बुलाओ !

एक साथ निकलें घर-घर से दूध-दही भर मटके
माखन-मिसरी मैं ले जाऊँगी, न कमी कुछ खटके !

जो खाता था यहाँ चुरा कर, आज बाँटकर खाए;
तुमसे ढीठ पूछ बैठेगा : आप नहीं कुछ लाए ?"

देख उमंग-तरंग यशोमति की न नन्द हिल पाए
रेत सुलग बदली में बदली, बिन्दु नहीं झिल पाए !

बोझिल-सी उंगलियां, पाँव भीतर से टूट रहे से
कहा: 'घसीटो मत काँटों में, हैं व्रण फूट रहे-से !

"मैं न जन्म-दाता हूँ उसका, न ही कर्म का दाता,
जान-बूझ सब किन्तु मानतीं तुम अपने को माता !

"ममता पहन, ओढ़ कर समता, बिना बुलाए जाओ,
खारे सारे लुटा, मधुर सपने बटोर कर लाओ !

"लिथड़ें पाँव कहीं कीचड़ में, मुसकानों से धोना,
उँगली उठे किसी की, कहना कोई शब्द सलोना !

"पूछे मेरे लिए, बताना : उन्हें नींद आती थी !
सिरहाने चढ़ सोनचिरैया जाने क्या गाती थी ?

"बँसवट धुँआ रहा है, वशी आग उगलती उर की,
मुँह सूखा, आंखें अँसुआईं, सुरति तुम्हारे सुर की !"

"बनती बात बिगाड़ रहे तुम",—बोली जसुमति रानी;
कान बन्दकर जीभ काट ली : क्या निकलते वाणी !

ये अनबोले बोल लाल मेरा क्या सुन सकता है ?
जीवन-रण में नहीं जानता हार, न ही थकता है !

"ठिठके पाँव रहेंगे, अकड़े हाथ, एकटक आँखें
लिए हथेली पर गोवर्धन के उग आएं पाँखें !

"मेरी ललक न होगी पूरी यह दवाब पड़ने से
दुखने लगती पीठ सेज पर पड़े फूल गड़ने से !

"मेरा स्वप्न गगन की आँखों में अंजन-सा रचता,
मेरा जो होना सो होगा, पर अपना ब्रज बचता !

"आकाङ्क्षा बन गई चुनौती, अपना निर्णय क्या हो,
सोना ही सोना निकलेगा जितना अन्तर दाहो !

"ललक झलक पाने की अन्तिम, झिलमिल करती बाती,
आमन्त्रण मुझको देता, मेरी फट जाती छाती !"

कहा नन्द ने विहँस, "विदा देता, जाओ, मिल आओ
पूर्णाहुति से प्रथम पहुँच कर यात्रा सुफल बनाओ !"

× × ×

गईं यशोदा गोप गोपियों की टोली से घिर कर,
बहुत दूर तक रहीं देखती कुछ चलकर, फिर-फिर कर :

कहीं नन्द हठ त्याग यशोदा को पुकारते आएँ,
कहें कि सब दिन साथ रहे, अब क्या हम हाथ छुड़ाएँ !

ममता जाती ही न हृदय से, सौ चोटें खाकर भी,
जलन नहीं जाती है, देखा रोकर भी, गाकर भी !

इधर ग्वालिनें आँखों के अञ्जलि-पुट से वह शोभा--
खिले कमल की, पीने को आतुर थीं उत्कट-लोभा !

कभी रेशमी श्यामल कुन्तल, कभी कनक-पीताम्बर
मोर मुकुट, मकराकृति कुण्डल, दिन में पर्व-निशाकर !

आते याद विषाद न उड़ पाने का हुआ घना था,
द्रुततरगामी मन के रथ का पथ पूछना मना था !

गोप ग्वाल थे छाल छीलते जलते पद-तलवों की !
एक दूसरे के दृग फूँके : धूल किसी ने झोंकी ?

अतिमानुष है कर्णधार, दुस्तर अर्णव हो जितना,
बन्द हृदय मन्दिर में है, पुरुषार्थ दखाए कितना !

छल-छन्दों से दूर स्वेच्छया बँधे हुए नियमों से
ज्ञान मुक्ति देता होगा, ये मुक्त अभुक्त भ्रमों से !

विनिमय विस्मय इन्हें छलावा, इनके लिए पहेली;
ग्वालों के ये सखा-सुहृद, ग्वालिन का सखी-सहेली !

हृदयों का आदान-प्रदान, न इनके और मनीषा,
प्रथम हृदय अवगाहा, फिर जिसने जो चाहा, झींसा !

स्नेह दिया जिसने, थोड़ा भी उससे रखा न गोपन;
तन्त्र शुद्ध तन, मन्त्र मुग्ध मन, यन्त्र नियन्त्रित जीवन !

वनफूलों जैसा हँसते हैं, मेघ-सदृश रोते हैं,
प्राणगान गा वही काटते जो कि हाथ बोते हैं !

सिर पर सूखे पत्ते झरते समरस स्वेद, शिशिरकण,
इन्हें काम अविराम, खेत-खलिहान हो कि निर्जन वन !

कोलाहल भी इन्हें कलित कलरव स्पन्दन-सा उर का,
सुख दुख आरोही अवरोही, हो जो जीवन सुर का !

लगन अटूट काम करने की, हिल मिल कर रहने की,
निर्बल नहीं, प्रवास भीरु हैं, प्यास नहीं बहने की !

उमग-उमग पग उठा रहे हैं किन्तु आज ये मग पर,
सावधान हैं, छूट न जाए कोई पीछे डग भर !

उखड़ी जाती है छाती की शिरा-शिरा, पर चलना,
प्राण-प्रदीप, झिलमिलाना क्या ? तुझे रात-दिन जलना !

एक साथ सब गा उठते हैं कभी मौन हो जाते,
भाव-विभोर एक दूजे के लिए 'कौन' हो जाते !

माथा पोंछ अँगोछ देह को छाँह देख थम जाते,
पथ-पड़ाव, विश्राम-धाम निश्वास छोड़ रम जाते !

नयन किसी मुख को आकुल हैं, आस पास क्या दिखता,
मर्म समझते सभी परस्पर, धर्म शास्त्र क्या लिखता !

बच्चों-सा विश्वास, रहे निर्भर अनन्य हो जिस पर,
उसकी विशद बुद्धि के सम्मुख नत मस्तक हों किस पर !

क्या छल-छद्म, न हृदय-पद्म में है अधिवास इतर का,
गिरि-लङ्घी पाँवों में बल दे, स्मरण भुला द घर का !

धूल धरा की बने तिलक इन नमनशील माथों का,
मिले तनिक संकेत समर्पित जीवन सब साथों का,

नहीं बाह्य व्यवहार मात्र उपहार-प्राण-मानों का
अन्तर्भाव राग बन जाता है अगेय गानों का !

थके पगों को दुगुने सम्भ्रम से जब उठते देखा
भेद छिपाने लगी यशोमति : दिखे न श्रम की रेखा !

जीवन की ठंडी घाटी की यह यात्रा अनबोली,
अस्थि-पसलियों को थहराती हवा हिमानी-घोली !

निश्वासों की लड़ियाँ टूटीं, उमड़ीं; गड़ीं उसासें,
छन्द अनबने, रूप-हीन आकृतियाँ स्वप्न प्रकाशें !

किन-किन नामों से पुकारती थी, क्या रही खिलाती
किन बातों पर रहे तिनकते, कैसे थी बहलाती !

वर्णहीन स्वर में जब गाते व्यञ्जन विविध सिखाती,
परछाईं आनन्द-कल्पतरु की मन-प्राण जुड़ाती ,

सूर्य चन्द्र की ज्योति-धार में सब का जीवन बहता,
मनहर श्याम अकेला अपना गगन-सदृश था रहता !

मन मिट्टी बनता जब उगते संकल्पित स्वर्णाङ्कुर
अम्बर बनकर रहा कन्हैया निःसकल्प, अनातुर !

सुख दुख के संवेदन को कितना व्याकुल कर देते,
रज न विरज को छू सकती, नभ मौन, हमीं स्वर देते !

उसके पास रहा तो लगता था, आकाश झुका है,
अपलक उसे निहारो, लगता, चन्दा रुका-रुका है !

उससे अलग हुए तो हम असमय असमर्थ हुए हैं,
सार्थकता कोई न रही होने की, व्यर्थ हुए हैं !

कर श्रम स्वेद बहाया सब ने, मोती कितने रोले !
लाल सिखाता ऐसी समता, ममता चढ़े हिंडोले !

पास रहा तो फैली बाँहें थीं जीवन की राहें,
बन्द खिड़कियों में घुटता-सा हृदय, तलफती चाहें !

सिन्धु सिन्धु है, एक विन्दु की भी न मपी गहराई,
मैं प्रकाश भी छू न सकी, कैसे छूती परछाईं !

घर बाहर के रगड़े खाकर चूरा-धूरा होना,
घिस-पिस कर भीतर ही भीतर बाहर हँसना रोना !

अब भी मेरी गोद सुगबुगाहट का अनुभव करती,
आकम्पित आशा दृढ़तर विश्वास विश्व में भरती !

कीचड़ से हरियाली उठकर लाल फूल लाई थी,
जल की ज्वाला भभक उठी, अध-खड़े कूल लाई थी !

मैं थी देख रही माध्यम बन, अनहोनी होनी थी !
सूखा बीज न था बोना, लोनी टहनी बोनी थी !

टहनी कलिआई, कलियाँ फूलीं यश के परिमल की,
महमह हुआ दिगन्त, जुड़ी टोली मधु-गुञ्जित छल की !

पुलकावलि पर शिला रखी निर्झरणी-सी छाती की,
मेरे दियने की उकसाई गई जली बाती थी !

ये ऊबड़-खाबड़ नाले, ये पथ के कंकड़-पत्थर,
कहाँ घसीटे लिए जा रहे, सिन्धु सुखाया मथ कर !

इस यात्रा का अन्त प्रथम होगा अथवा यात्री का,
कर्म एक, प्रारब्ध पृथक पर, माता से धात्री का !

चाहा, छाती से न कभी अलगाऊँ, पलकों गोया,
तभी दरस को रही तरसती, जीवन हर क्षण रोया !

एक कहाँ कोई जी पाता ? सत्य एक आकृति में;
मूल्यों की हेराफेरी बैठी जड़ जमा प्रकृति में !

'राजा बेटा !' रंक भिखारिन माएँ भी कहती हैं,
बेटे राजा हो भी जाएँ, माएँ माँ रहती हैं !

गाँव-गाँव से निकल विकल-स्वर लोग पूछने आते :
'हमें कहाँ जाना है ? हम हैं कौन ?'—प्रश्न दुहराते ।

'मेरा बेटा यज्ञ रहा कर'—कहती जभी ललक कर,
ओठों से मुसकान बाँधती, रहते अश्रु छलक कर।

'यान न भेजा ?'—छाती पर यह पूछ मूँग दलते हैं;
'देखे रथ-सारथी बहुत हैं'-हम पैदल चलते हैं।

—कह देती हूँ; पर मन पर बढ़ता दबाव दूना है,
थके-थके मुँह पर तनाव : मन छूँछा है; सूना है !

धूल-लगी स्मृतियाँ लिपटी हैं, स्पर्श-स्वेद चिपका हैं,
कच्ची नींद जागते-सोते जीवन जला पका है !

गुहराते सम्बन्ध गई थक, प्रश्न विराम न जानें,
कितनी बार कहा : सब प्यासे, प्रण घनश्याम न मानें !

उलझे नयन न इनके, देखा मोर-मुकुट न मुरलिया,
सुनी अनसुनी, अहि-विवरों ने कभी अमिय-कण न पिया !

लाल पँखुरियों पर देखा उजला न फूल खिलता-सा,
देखा नहीं दूब की फुनगी से बादल मिलता-सा

न ये गन्ध--बींधे नासापुट, न ये नये वनफूल,
सोच इन्हें न, चढ़े सिर पर, बिन खिले हुए या धूल !

प्यास आग की जिन्हें हुलस अन्तर्दर्पण में झाँकें,
मेरा निर्जन जीवन आँकें,—नभ नक्षत्रित ताकें !

यमुना की चकली बालू में गहरी खोद समाधि,
मैंने गाड़ीं नहीं अस्थियाँ अपनी, यही उपाधि !

ऋद्धि-सिद्धियाँ उसके आगे-पीछे मँडलाती थीं;
उसे रिझाने ललित कलाएँ नाच-नाच गाती थीं !

जिसके ऐसा लाल, त्रिकाल बिलोक नहीं था थकता,
मौन गुनूँ क्या, कौन सुना कर मुझे अबुझ क्या बकता !

इच्छाओं से की न घृणा, माँगी न दया पत्थर से,
जर्जर-तन चल पड़ी भग्न-मन मिलने अजर-अमर से !

पावन हुआ पुण्य वर्षण से गोवर्धन छिगुनी का
ग्वाल बाल के भव्य भाल का श्यामल मङ्गल टीका ।

मैं असीसती थी जो कह, वैसा था होता जाता,
बँधते देख मुझे बन्धन में वह था रोता जाता !

भेद समझ पाई न उस घड़ी, क्यों रोता आनन्दी ?
मुक्त विहग था देख रहा : मेरी आत्मा क्यों बन्दी ?

जी की जलन गई न आज तक शुद्ध बुद्धि पछताती
छीन ले गया जग, युग ने लौटाने कहा न थाती !

जो न रहसती अहोभाग्य पर, ज्योत्स्ना ज्यों पूनम पर,
उद्भिद्-सी सेचन से, वल्लरि-सी लतरी छतरी भर,

तो न अमृत कह गरल निगलना पड़ता आलोचन का,
अगुले-बगुले लख न पराता हंस पद्म-कानन का !

खरे, खुरदुरे शब्द अब्द भर सुन-सुन रस लेती थी;
झूठमूठ के रगड़े-झगड़े छुड़ा सुयश लेती थी !

लहरों का संगीत श्रवण कर भहरे भरे किनारे;
अब भी किलकारियाँ गूँजतीं जिन पर जीवन वारे ।

कुछ गोपाल-बाल आगे बढ़ बोले : जसुमति माई,
सूख गया मुख, थकीं बहुत ? औचट उदास हो आई !

हमने तो देखा न, नित्य उत्सुकता उकसाती है
गोद खिलाया तुमने, अपनी धड़क रही छाती है ।

कहा यशोदा ने : "मेरे भीतर खलबली मची है,
युगों बाद देखेगा, उर में जो छवि रची पची है !

हो संवेदनशील, सिमट बाँहों में, मिट्टी देगा ?
अब वैसा होगा न; किन्तु पहचान मुझे तो लेगा ?

शत सहस्र से रहे घिरा वह, मुझे न अड़चन होगी,
पीठ थपक पूछूँगी : कैसे ? कह न सकूँगी—ढोंगी ।

वेला चलाचली की, अन्तिम बार भेंटने आई !
जाल बिछाया था क्या तूने ? मैं समेटने आई !

उखड़े तेरे पाँव न, उजड़े नन्दगाँव, तेरा; क्या ?
भर पाने पर भी बरसाने छलका है, तेरा क्या ?

मेरा शून्य मेट कर तूने संख्या कौन बढ़ाई,
एक घटी पहचान, छान मन, तेरी बड़ी बड़ाई !

ऐसे देख रहा कि चेतना हुई अचेतन तन में,
नहीं ढूँढ़ने पर भी मिलती ? खोई विस्मृति-वन में ?

शरण मरण की श्रेय जेठ की लू सी इन सांसों से,
रुखड़े ओठ, बुझी आँखों से, पथराई आसों से !

भरा लोरियों से अम्बर या मृग-दृग के तारों से,
प्राण बने जब गान, छने थे स्वर सुगन्ध हारों से !

तुझे गोद में ले देखा : आया वसन्त मधुवन में,
तुझे सुनाने सुना विहग-रव, जल-कलकल, स्वन घन में !

स्मरण नहीं कुछ भी ? संस्मरणों में ही मैं जीती हूँ,
घटनामय जीवन तेरा, निष्क्रिय मेरा,—रीती हूँ !"

—विकल हुए गोपाल, गोपियाँ विह्वल : ओ री दैया !
बैठे का यह सोच, चल रही हो तुम जसुमति मैया !

फूल फूलना भले भूल जाएँ ऋतुएँ, दृग सपने;
पोंछ नहीं सकते परछाइं मन-दर्पण से अपने !

मान न दें, पहचान न पाएँ तुम्हें,-नहीं हो सकता;
अग्नि-बीज ही ऊपर छितरी धुँआ बेल बो सकता।

हमने सुना : हँसोड़ बड़े हैं, पर्वत लगे उठाने,
आ लपकाए हाथ साथियों ने भी साथ निभाने;

तनिक ढील दी स्वेद पोंछने का-सा भाव दिखाकर,
लगे लड़खड़ाने साथी, छुड़वाए हाथ सिखाकर :—

—"पहले 'मैं' बन लो, फिर मेरी देखादेखी करना;
मुझ-सा जीना आ जाए, भाएगा मुझ-सा मरना !"

कहा यशोदा ने, "हँसोड़ है, चुप्पा, चतुर, भगोड़ा,
कल आने वाले से रखता हेल-मेल है थोड़ा।

उसे हो गया होगा अब आभास कि हम आते हैं,
रह-रह चौंक रहा होगा; क्यों पथ यों बिलमाते हैं!

तब होगा विश्वास भगोड़े, तब पूजेगी आशा,
जब देखेंगे हँसते जग में तू ही एक उदासा!

मर्मर मर्म समझता तू ही पतझर के पत्तों का,
व्यूह समूह कहां न जमा है जग में मदमत्तों का!

पर क्यों सब को ज्ञान दिया, दी एक मुझे ही माया?
सब चन्दन आत्मा परखें, निरखूँ मैं सुन्दर काया!

रखा बना आँखों की पुतली, बही न, पाया तिनका,
बरसी कृपा, उगा स्नेहाङ्कुर स्वर्णिम, बहुरे दिन का!

रचा कुचक्र चक्र-चालक ने कुसुमित सुषमा छीनी;
मुँह मुरझे हँसमुख मित्रों के, उड़ी चित्र-रंगीनी।

एक दुरन्त अशान्ति मुझे दी काढ़ हँसी अन्तर से,
औरों की आँखों की पाँखें टकराईं अम्बर से!

अक्षर नक्षत्रों के बाँचे, सन्नाटे का सुर भी—
सुनें अनमने, अपने सपने बुनें, बताएँ गुर भी।

गन्ध उड़ी क्यों फूलवनों के ऊपर से पर फैला,
रखे रह गए, गए न पोए फूल, हुआ नभ मैला!

भूले विहग चहकना, मधुकर मुकुलों पर मंडलाना,
मौलसिरी पथ पर बिछ कर भूली न धूल हो जाना!

तब तो बहुत मचलते थे, अब हुई बेसुरी लोरी,
सपनों में सच रही सुनाती, जगी कल्पना कोरी!

धूल न डाल सकी जब मन पर, तन पर धूल उड़ेली,
आया अति आनन्द; पूछ मत :—कितनी पीड़ा झेली!

हुआ इन्द्रधनु सजल श्याम घन, नयन भसे, झड़ लाए,
बुझीं बिजलियाँ रात-रात जल, हम अम्बर तर आए!"

ऋषि-मुनि, साधु-सन्त ठहरे थे बरगद-पीपल के तल,
दुपहर भर चल-चल कर पहुँचा वहीं गोप-गोपी-दल !

हृदय-भार भी झिल न रहा था, झुका-झुका था माथा,
मात यशोमति रहीं सुनाती पथ भर शतपथ-गाथा !

मिल बैठे सुस्ताने तरु-तल, रुची सन्त की वाणी :
—:मकड़ी के-से जाले बुन-बुन आप फँसे हैं प्राणी !

छटपट करते हैं, न निकल पाते अपनी उलझन से,
कौन उबारे उन्हें न जो उबरें अपने ही प्रण से !

जीवन में कृतार्थता ढूँढ़ो, निष्फल जीने वालो !
पिया अमृत उपलब्धि का नहीं ? आँसू पीने वालो !

क्या कुछ ऐसा सँचा-बचाया, शत्रु न छीन सके जो ?
गाढ़े में आ पास तुम्हारे बिखरा बीन सके जो ?

उलझे रहे काम धन्धों में, झुक कर भीतर झाँका ?
सब अपने से डरे, मरे हैं, कोई वीर न बाँका।

धर्म प्रथम अवलम्ब न होगा, चित्त छटपटाएगा,
गहरे-गहरे उतरे जब जड़, नव पल्लव आएगा।

झटक-पटक आनन्द मिले, वह चट-पट खो जाएगा,
उतरे स्तर-स्तर अमृत ढूँढने, वह न गरल पाएगा ?

ज्ञान गरल है, जो अनाचरित, आधा और अधूरा,
बीज वृक्ष हो जाए तो नर नारायण हो पूरा !

लाख बचाओ, बच न सकेगी यह क्षणभङ्गुर काया,
वही बचेगा अमर स्वरों में जिसने जीवन गाया !

सिन्धु-सन्तरण करे बिन्दु अस्तित्व अस्मिता खो कर,
बचने के प्रयास में सूखे, उड़े पवन-पंखों पर !

झुक-झुक आए गोप, गोपियाँ सजल घटा-सी घुमड़ीं,
उमगा हिया यशोमति का, आँखें उछाह से उमड़ीं।

कहा सन्त ने : शान्ति नहीं, तुमने सुख पाना चाहा,
सुख के संग लगा रहता दुख, मन को मथा न थाहा !

उत्तेजित दोनों करते हैं, कहने को सुख दुख हैं
दोनों डंसते हँसा-रुला कर, एक सर्प दो मुख हैं !

नील गगन में शुभ्र अभ्र सा धूप-धूल पियराता,
दुख की छाँह-छाँह चलता सुख पवन परस कुम्हलाता !

सभी चल रहे हैं, अशान्त सुख-दुख ने इन्हें किया है,
इनके चंगुल से निकले, किस माँ का दूध पिया है ?

विह्वल-विकल दीखती हो क्यों मर्त्य-देव की माता ?
तुम ममता की सम्राज्ञी, दे तुम्हें, कहाँ वह दाता ?

अतिवत्सले, क्षीर-सागरिके, सुरपुर की नागरिके,
गोद खिलाया उन्हीं देव का जो कि स्वर्ग में न टिके !

जीवन धन्य हुआ उनका था स्वर्ग जिन्हें आडम्बर,
नखमणि-किरण मातृचरणों की, क्षिति पर उतरा अम्बर !

भीर पड़ी जब, धीर तजा सबने, तब मन को रोका,
हिला रैवतक को भी देगा साँसों का यह झोंका !

दिया ललित ललिता ने परिचय कठिन तीर्थयात्रा का,
स्तब्ध हुए ऋषि, सन्त दण्डवत् पड़ा, न ऊपर ताका ।

पैर खींच कर कहा यशोदा ने : क्यों पाप चढ़ाते !
त्यागी आप; गृही, अनुरागी मैं, अनुताप बढ़ाते !

"अपने को कर निःस्व, विश्व को विश्वम्भरा, भरा है,
ऐसे सुत की आप मात जिसके न मरण, न जरा है ?"

रेख खींच कर कहा सन्त ने : „आप लोकमाता हैं,
रच-पच कहूँ बहुत क्या, ये पग अग-जग के त्राता हैं !

"पूरा पखवाड़ा बीता रज तम में चलते-चलते,
छील-छाल कर मन को गढ़ते, तन को पचते गलते !

हम सब हैं प्रभास के यात्रिक, मात्रिक छन्द-सरीखे,
कुछ अक्षर घट बढ़ जाते, है छन्द सभी ने सीखे !

तीन कोश रह गए और हैं पथ पर बुझते जलते,
हम सब रुक थम पहुँच रहे हैं सूरज ढलते-ढलते !

"कल है सूर्य्य-ग्रहण, फल दूषित, —छत्र-भङ्ग होने का,
अन्तक आया सर्वोत्तम का, समय सङ्ग खोने का !

सौ वर्षों में ऐसा कोई ग्रहण नहीं आया था,
अन्धा दिन निकलेगा, ऐसा तम न कभी छाया था !

"धर्मराज कहलाने वाला तन कर मिथ्या बोले,
छल-छद्मों का रहे बोलबाला, पट कपट टटोले,

वहाँ और क्या होगा जब जग अस्त्र-शस्त्र पर निर्भर,
भूल गया वह मन्त्र, फूटता था पत्थर से निर्झर !

मत्त मगन पी रहे विषय-विष, औषधियों से जीते,
ऊपर-ऊपर भले भरे हों, भीतर-भीतर रीते !

अपने तिनके-जैसे गुण को चढ़ सुमेरु पर गाते,
अवगुण अपराधों के सागर को हैं बूँद बताते !

विमुख हुए देवता, सृष्टि का है क्या होनेवाला,
सूर्य ग्रहण यह बतलाएगा—बचा न रोने वाला !

सहमीं, सूख गया मुख माँ का, चौंका सन्त सयाना,
ग्रह-नक्षत्र न अपने वश के, माँ ने क्यों दुख माना ?

"दायाँ-बायाँ नहीं जान पाईं, मन सीधा-सादा,'
—ललिता बोली : 'माँ ने जग भर का दुख सिर पर लादा !

"झुकी-झुकी रहती हैं, अनभल नहीं किसी का ताका :
सूर्य ग्रहण क्यों अमा झेलती, चन्द्रग्रहण क्यों राका !

"दाईं आँख आज क्यों फड़की, क्यों खड़का वह पत्ता ?
जब सब मधु मक्खियाँ गईं पी, टँगा हुआ क्यों छत्ता ?

'कौन लिवा जाएगा कल ? जाएँगे कहाँ नहाने ?
बाबा याद आ रहे होंगे इस क्षण इसी बहाने !"

—ललिता हँसी, हँसाया सबको : तीन कोस जाना है !
चरी हरी है घास पेट भर, पानी छक छाना है !

—सँवरेंगे सब काम, श्याम का नाम सकल मुद-मङ्गल,
उर के तार सजें सब सुर के हर पग हरें अमङ्गल !

सूर्य-चन्द्रमा कहाँ जा रहे, हमें कौन बतलाए ?
वेणु-वीन बजती प्राणों में, नयन-नयन घन छाए !

लहर-लहर लहराए नदिया, किससे मिलने जाए !
कभी अँधेरे कभी उजेले डूब-डूब उतराए !

खेले खेल मरण-जीवन का जल-तल आए जाए
वह उमंग रँग ले हम सब को, कोरा रोए, गाए !

विश्व-विहीन विजन में बैठे जो विश्राम विहीन
हमें न उनसे पुराचीन लेना, देना न नवीन !

फूलों के ही पास उगे क्यों ? फूल न मुरझाएँगे !
शूलों से न घिरे तन, मन सौरभ में उलझाएँगे !

धरती पर हम चलें भले, आकाश संग चलता है,
साँझ ढले, आँखें न बुझें, आकाश-दीप जलता है !

कभी इधर से, कभी उधर से, आती हवा उमग कर,
हमें चला चलना है आगे, पछताना क्या मग पर ?

शक्ति निरन्तर गति में है, अधबीच टूटना क्या है !
आगे जो हो, जाना; पीछे भला छूटना क्या है !"

आगे चली सन्त की टोली, पीछे चली ठिठोली—
काम-धाम करना न जिसे वह बोले ऊँची बोली !

सात दिनों में मात यशोदा, पन्द्रह दिन में साधू,
लगे ठिकाने सभी इकट्ठे; छिछलो भयो अगाधू !

प्रथम कह्यो जिहि विधि हिलि मिलि के बेद-पुराननि गायो,
तूँबा-सोंटा निहुरि दिखायो, मन-अभिलाष पुरायो !

निमिषहुँ बिसर्‌यो नाहिं, लग्यौ संग चीटिन-सों, न परायो,
ललिता के प्रभु साक-पत्र औ' कदली-छिकुला खायो !

मानत नाहिं कहा कोउ मेरो, साधुन धाय उबार्‌यो;
कठिन परी जब सुगम करी, सब गोपिन के दुख टार्‌यो !

मति काँची, साँची ठकुराई कीनी, मातु सम्हारी,
गगनविहारिन के शुभ दरसन अब जनि देहु मुरारी !

हँसी-हँसी में बाट कटी कुछ, लगी सिमटने छाया,
नए उदय तक विदा माँगने रवि ने कर फैलाया !

गाइनि बछरनि संग-साथ लै बेगि चलै चरवैया,
टुनटुन घटी बाजे, सन-सन पवन बहै पुरवैया !

कौन निबेरे, हेरे रुक कर,—पलटे क्या वृन्दावन ?
बात अनेरी, होगी देरी, साँझ पड़ी, श्यामल वन !

एक रंग संझा-चरवाहे, एक रंग नभ-धरती,
एक रंग लहलहे खेत सब, एक रंग है परती !

ज्यों-ज्यों नियराता प्रभास, है लगी धड़कने छाती,
दुरे सन्त, पथ पर न दीखता कोई संग-सँघाती !

आँखें छलक उठीं जसुमति की : था ऊखल में बाँधा,
ललिता लची : फाँस-फुसला कर दिखलाई थी राधा !

अलख, अदेखे को देखेंगे—लड़के - लड़के आगे—
रैता, पैता, मना, मनसुखा; अब बूढ़े, बड़भागे !

चलाचली की बेर हेर लेंगे कान्हा का मुखड़ा
कन्धे पर कर रख बतिआएँगे कि सुनेंगे दुखड़ा !

उनके बिना व्यर्थ दिन बीते, रीता जीवन सारा :
अपनी-अपनी नाव छोड़ दी मान उन्हें ध्रुवतारा !

कोने में बैठे जमुहाई लेते तन अकड़ाए,
गर्दन मोड़ न देखा पीछे आँखें मूँद अघाए।

मरु के-से बातास छोड़ उच्छ्वास उष्ण कुछ बोले
जीवन बहता गया, न बाँधे बांध, न कर पद डोले !

माथा रहे झुकाए, फूले झरे फूल, फल टपके;
वयस गँवा कर सरवस पाने हम आए हैं लपके !

लड़के बोले : गया गया, यह नया जन्म होना है,
नवल पवन, अभिनव प्रकाश में नया बीज बोना है !

झरा पुराना, नव पल्लव निकलेंगे कोमल कोरे,
हम लौटेंगे नव वसन्त में बौरों में मधु-बोरे !

गाँव छूटते गए, पांव सहमे-सहमे-से बढ़ते
जकड़न-सी आई उछाह में अन्धकार-से कढ़ते !

कैसे दिखलाएँगे मुँह, यदि दिखा दाल में काला ।
मत्र सुनाई पड़े धुएँ में दिखी धधकती ज्वाला,

एक चली अपनी न आज तक व्याज बनी अभिलाषा,
अपना जीवन मौन-मूक, मुँह लगी कौन-सी भाषा !

हम तक आए चरण चरण ? अब तक भ्रमते फिरते थे ?
गर्व-गर्व में गले तुम्हारे, बालू में तिरते थे !

अब तो अंग करो मनमोहन, संग हमें भी ले लो,
करते-करते राज-काज होगे न थके ? टुक खेलो !

गिरिधर बिरद धरे हो, चित दे विनती सुनो हमारी ।
दूर-दूर हम चल कर आए अबकि तुम्हारी बारी !

कबहूँ समय न पायो, विनु बदले उपकार करो तुम;
विनु दीन्हे ही दो, बिछड़े पिछड़ों को प्यार करो तुम !

कोऊ लै पहुँचावै अपनी विनती भीर पड़े पर
मिला भरोसे का न कहीं, जो पिघले द्वार खड़े पर !

यही जान जिय, का न कियो तुम, केतिक सगे पराए—
डोलत पाछें लागे, हम हूँ सकुचि यहाँ लौं आए !

निज पन को हठ ठान निभाते, करता विश्व बड़ाई,
भटक रहे हम नगर-डगर में, कहीं नहीं सुनवाई ।

तोसों मीत तुम्हीं हो, कब से विरद यही चलि आयो,
हम तो जनम-करम के ओछे, काहे नेह लगायो ?

रैन अंधेरी, कठिन पड़ी है, सुगम करो, कुछ बोलो,
पहचानी वह भोली बोली, माखन-मिसरी घोलो !

बोल तुम्हारे पंथ बताएँ, पग-पग रुके, थके हम,
नाव किनारे डूब रही है, टारो विपति, तके तम ।

बाल बछरुआ कलपै कांचो, बपुरो बैल बुढ़ायो,
एकहि धगा कांच-कंचन का, गैया-मैया आयो ।

बिनु देखै, बिनु सुनै न हमरी एक बात पतिआते,
औचक होते प्रगट सखा संग बतियाते–बतियाते ।

अपनी आँखों हमें देखते बेर-बेर क्यों टेरें !
सची किते दिन मधुमाखी दे फूल फूल पर फेरे !

सरबस गँवा विकल भइ भारी नाहिन तज्यो उछाह
रचने नव मधुचक्र उड़ी आई वह भी इस राह !"

सूर्यग्रहण यह था ऐसा नभ प्रलय जलधि मे सोए
जन सम्मर्द अदृष्टपूर्व कोई गाए या रोए ।

कुछ आगे बढ़ने पर कोलाहल समीप हो आया,
ललिता करतल ताल बजा बोली, प्रभास, लो, आया !

तम पर कर आघात प्रबल अपना दल आगे आया,
पंख–पखेरू गए घोंसले, गई छोड़ कर छाया !

पागल प्राण हुए हैं चञ्चल दृग दर्शन के प्यासे
अब हम सांस मिलन-क्षण लेंगे पग कांपे डग त्रासे ।

सुख की साध सभी को ! पर्वत-शिखर ठठाकर हँसता,
अनचाहे दुख का अनथाहा सागर ताने कसता !

सब प्राणों का खेल खेलते, हमें न जीना, मरना
लोग लपेट-सपेट रखें, हमको बस दर्शन करना ।

कृष्ण चतुर्दश के चंदा का उदय एक पल होगा ?
आज चन्द्रमा देखेंगे हम, सूर्यग्रहण कल होगा !

आँख झुकाए रात ढलेगी, उगे उगे न मलिन दिन !
मैं झुक-झुक झाँकूँगी दृग में बनते मिटते गुण-ऋण ।

कितनी अग-जग की पीड़ा है ? कितनी युग की पीड़ा,
हँसी हँसी में भाप काँप व्रीड़ा की होगी क्रीड़ा ।

कितना विरह विषाद, स्वाद कैसा उपलब्धि नई का !
नक्षत्रों में झिलमिल करना रूप प्रकाशमयी का ।

'अपलक रही निहार ठगी-सी क्या बूढ़ी आँखों में ?'
'झाड़ फूंक की शक्ति संजोता है मयूर पाँखों में ।'

'रहा नहीं विश्वास-योग्य उच्छ्वास बहाया उर में ?'
'क्या कहना इस लयकारी का, रोते भी हो सुर में।'

'ढक लेता है वाष्प आँसुओं में डूबे शब्दों को !'
'जो न कुहासा हो, झेले कैसे लम्बे अब्दों को !'

अपराजिता कभी फूली, जब कभी अनभ्र हुआ नभ
आँखें जातीं जुड़ा उनीदी, स्वप्न जिन्हें हैं दुर्लभ।

जीवन भर सपने ही देखे हैं मैंने अपनों के,
अमित न माप सका, गुहराए गुण-अवगुण नपनों के !

चमक रहा मणि-सा मन में था कल्पित परिसंवाद
बाहर अन्धकार छाया था, सोया अन्तर्नाद !

भीड़ चीरती भीड़ जुड़ रही थी, बढ़ आई टोली,
नहीं भीड़ में खो पाई यह, सुनती बोली-ठोली !

सोच और संकोच का न अवसर था, बढ़ना ही था,
ठेलठाल कर, भोड़-नीड़ से खग को कढ़ना ही था !

आगे ललिता, मध्य यशोदा, पीछे गोपी-ग्वाले,
बाँस बाँस डालियाँ हिलाते, गाते कौए काले !

मेला ही मेला था, कैसे यज्ञभूमि पहचाने,
धर्म धमाधम मचा रहा था, टूट पड़ा था खाने !

साधु, सन्त भूखे-नंगों को पैसे जिमा रहे थे,
छीना-झपटी मची हुई थी, कैसे जिमा रहे थे !

कुछ पूछो तो चिमटे तानें ले-लेकर जमुहाई,
तभी प्रणव ध्वनि वाम पार्श्व से पवन-पंख पर आई !

हुलसी ललिता : अनायास हम पास आ गए दिखता,
माँ ने क्लेश सहा, हम सब उल्लास पा गए, दिखता !

महोच्चार स्वाहा का गूंजा, काँपीं दसों दिशाएं,
एक निमिष रुक प्राण गान मङ्गल हिल-मिल कर गाएं

पहुँच गए, लो तरु-तोरण ध्वज फहरे बड़े बड़े थे,
प्रतीहार, प्रहरी कि यज्ञ-मण्डप को घेर खड़े थे !

हिरनी सी ललिता की काली आँखें कस्तूरी-सी,
गन्ध लगी दौवारिक को, चौंका लख फूली तीसी !

रोक-टोक थी समझ न पाती, यष्टि दिखा कर डाँटा;
विहंसी ललिता: उन्हें बोल दो, कूद-फाँदकर काँटा;—

भीतर धंसी चली आती है ब्रजवासिन खोटी-सी
बड़ी-बड़ी बातें करती है, दिखती यों छोटी-सी ।

चढ़ा हुआ सुर ज्यों वीणा का, उतरा स्वर कोयल का,
सुनकर प्रहरी मुख्य द्वार पर आ धमके, मन छलका !

झुण्ड-झुण्ड ब्रजवासी लेकर दूध-दही के मटके,
नंगे पाँव लपेटे पगड़ी, खड़े भीड़ से हट के !

लीला लगे देखने, जो थे दूर खड़े, नियराए,
देश-देश से कितने आए, ऐसे और न आए !

परम प्रसन्न, मधुरभाषी, निश्चिन्त मुक्त अन्तस्तल
जिनके चित व्यापा न विषय-विष, विकसित सरसिज निर्जल

भङ्गुर नहीं अपाङ्ग तरङ्गें विपुल विलोचन निर्मल
बिथुर चिकुर-कलाप, मयूरी के-से पंख अचञ्चल !

अमृत बरसती मन्द हंसी, आनन्द सिन्धु लहरी-सी,
बोल बोलती सिर से ऊँचे, भीतर से गहरी सी !

पूछा प्रबल प्रहरियों ने : "क्या पड़ी तुम्हें मिलने की ?
प्रभु बैठे हैं हवनासन पर, बात नहीं हिलने की !

"स्वाहा-स्वाहा की सुलगी रट ऋत्विक और पुरोहित,
घेरे बैठे हुए चतुर्दिश; श्रम-क्लममय नूतन नित !

"सूख रहा माधुर्य-जलधि, मुख-चन्द्र म्लान हो आया,
चार याम से एकासन पर बैठे हैं, तन ताया ।

"क्या है काम ? नाम बतलाओ, तुम उनकी क्या होती ?
ब्रज के रजकण नहीं, कहीं के हो तुम निखरे मोती !

"ब्रजवासी इतने आनन्दी ! कान्तिमान हैं ऐसे ?"
धन इनका संतोष, स्वच्छ मन, तुम्हें बताऊँ कैसे

है आनन्द स्वरूप हमारा दधि मथ माखन पाया,
नित्य विवेक अमृत पीता जो, उसे न डँसती माया।

ललिता ने हंस कहा, वही अपने प्यारे ईश्वर हैं?
ध्यानातीत न ज्ञान हमारा, हम गाते, वह स्वर हैं।

प्रहरी विवश, न कह सकते संवाद, न भीतर जाने,
तृष्णा कृष्णार्चन की, बैठी थी ललिता हठ ठाने।

ऐसे में क्या हो, अव्याज-मधुर रसार्द्र-अन्तर को–
कैसे हो सूचना? मना भरना उड़ान अम्बर को!

मणि-मञ्जीर-रसाल चाल गोपाल लाल की आई–
मात यशोमति की स्मृति में, छिटकी मुंह पर अरुणाई!

घुटनों के बल चल पल भर लौटा लाई लरिकाई,
ठुनकी ओठों के भीतर, —आओ हो कुंवर कन्हाई!

सन-सन पवन बही पुरवाई, पुलक-धड़क उर सिहरा,
उन्मन हुए श्याम सुन्दर विस्मृत स्वर स्मृति में उभरा!

चंहै चौहट धर्म-ज्ञान का, चौदस की अँधियारी,
मात यशोमति लगीं हेरने छड़ीदार-छवि न्यारी

छुड़ा हाथ ललिता से छाती पर धर बल भर टेरा:
'किए जिउतिया माइ मल्हावै, लाल कहाँ है मेरा?'

हूयमान पावक काँपा गिर पड़ी स्रुवा करतल से,
काँपी अर्चि, आज्य छलका, लहका न होम ऋग्वल से,

ऋत्विक चपल, पुरोधा चिन्तित, हरि भी चित्र-लिखे से,
दल-बादल के सन्धि-रन्ध्र से हिमकर-बिम्ब दिखे-से!

क्या अलक्ष्य में हुआ घटित, क्यों जब-तब युग-दृग फड़के
मन उद्विग्न हुआ क्यों, तन को जहाँ बैठना अड़के?

द्वारपाल के घेरे घिरता, था आह्वान न ऐसा,
श्रवण-रन्ध्र में पड़े न कातर स्वर, जड़ ध्यान न ऐसा!

ग्रहण नहाने आए जो, बन आँख-कान-मुँह धाए,
भीड़ लगी बढ़ने, न क्षीण शशि शीघ्र उजलने पाए!

धूप भर गई ज्यों रजनी में, हवन-कुण्ड की ज्वाला–
धधक उठी स्फुलिङ्ग पिङ्गल में, और हुआ नभ काला ।

सीमित रहो असीम, न हो एकान्त-शान्त में हलचल,
रहे वेदना पास हृदय के, इसमें हो जग-मङ्गल !

व्यथित एक मर्मान्तक-सा स्वर द्वार तोड़कर आया
किन्हीं पराजित आँखों की झलकी ज्यों हल्की छाया

एक मरोर प्रार्थना का स्वर भेद व्यग्र विह्वल-सी
नाता वातावरण का न मानती, ऊर्मि उच्छल-सी !

वाष्प-विवर्ण नयन से फूटी म्लान मलिन मर्माहत,
विवश विरक्ति उचाट, उदासी अवहेला अव्याहत ।

आँधी अट्टहास की क्रन्दन बन होती उद्भ्रान्त
उठी हृदय में याज्ञिक के, श्लथ दक्षिण कर विक्रान्त ।

हिला शिला प्राचीर पुरातन झोंका, नया सुवासित
कोख दुख रही दुखियारी की, आया बना सुभाषित ।

डूबा दिन फैले कामों में, जीवन हुआ पुराना,
संध्या हुई रात जाती है, कितने दुरित दुराना ।

"सूखी तपती आँखों के ओ शाद्वल तल-शैवाल
कहाँ छिपे हो गहन शून्य में, उगो बाल गोपाल !"

"माँ, हो कहाँ ? पुकारा औचक तुमने मुझे कहाँ से ?
हुआ विलम्ब अम्ब, आने में, देते मन्त्र कि झाँसे ।

"गला फाड़ते इधर पुरोहित, फिर ऋत्विक् रिरिआए
साँस तुम्हारी फूल रही थी : अब लौं श्याम न आए ?"

जीवन भर के रुँधे आँसुओं से मैं पाँव पखारूँ,
अपनी असमर्थता तुम्हारे चढ़े दाँव पर वारूँ !

एक स्वप्न आवेश सत्य का जो प्राणों में पाला,
असह भर्त्सना निठुर नियति की सह कर हृदय उजाला;

कुम्हलाया मुँह रहा तुम्हारा मैं काँटों में झूला,
आश्वासन पर प्रात पवन के डंठल-डंठल झूला ।

कब न जली होमाग्नि, नहीं कब अपना धीरज होमा,
यह पूर्णाहुति, इसे सँभालो, फिर आशीषो, ओ मां !

अस्त व्यस्त केशों को झटका, पोंछे नयन विवर्ण,
छूटी स्रुवा हाथ से, माथे से चूता द्रव स्वर्ण !

झड़ी बाँधकर स्वेद बरसता, कृष्ण मेघ से शीतल,
मृत विरक्ति से चुआ अमृत आसन से उठे पिबल गल !

"मान्यमना भव तिष्ठ भूय उपविश मा ब्रूहि वचोऽन्यत
यज्ञखण्डनं न मतिमण्डनं, यच्चलयेत्त्वां किन्तत् ?

"गलित-नयन-सलिलं स्वजनाऽनुनयत्यतिशयितहुताशम्
आताम्राभवदन–दन्तान्तर-पिष्टाक्षरमुच्छ्वासम्

"मा विधेहि विस्मेरान् पुरलोकानवलोकनलुब्धान्
अच्युत विधिश्च्युतस्त्व त्संरम्भात् त्रायस्व विमुग्धान् !

"पौरोहित्यं द्विषां हसैर्मा मलिनय विफलय यज्ञम्
हन्त जनय न मुदं संशयितानां न विलोपय तज्ज्ञम् ।"

× × × ×

कंचन-काँच यशोमति मैया तुमको एक दिखावै !
सपने की सम्पत्ति मिली, अब तुम समान को पावै ?

मिटि न गयो सन्देह हृदय को : तुम्हें न पहचानेंगे,
मैं कथा कहती थी, पलकों पर उठा अश्रु ढालेंगे ।

ऊँच-नीच व्यौरो न रह्यो क्या इधर ताकते ज्ञानी,
सरे बैर काहू के ? बहुरी किसकी प्रीति पुरानी ?

किसी नाम से मुझे पुकारो, जो तुम्हरे मन भावे,
ललिता ऐसी नहीं अनाड़ी, अपना नाम बतावे ।

पहचाना, तुम्हरी मुँह बोली यह है सखी सुनन्दा ?
लग्यो फिरी तुम्हरे सँग, कोटिक बरजो, कट्यो न फन्दा !

छोटे बाल गुपाल इन्हें तुम कैसे पहचानोगे
खेलत रहें तुम्हारे सँग जो, सठिआए; मानोगे ?

हमहूँ तो कछु बदल गई या हूँ जेती की तेती
करि अपराध अनेक जनम लों, नदिया हो गइ रेती ।

× × ×

माँ की छाती से छिपके पोंछे दृग हरि ने कैसे ?
घी से चुपड़ी बाती दीपक में जल काजल जैसे !

दोनों चुप थे गोपन में निर्झर के झरने का स्वर
अँधियारा धुल रहा, ढुल रहा था नभ का निचला स्तर

पाद्य-अर्घ्य की रीति पुरातन बिसर गई क्षण भर को
आँख उठाते क्या संभाल कर पलक टँगे कण भर को ?

दुर्बल डोरे हैं मृणाल के, काँटों के बल पलता;
सह न सकेगा साँस-झकोरा, साँसों को है छलता।

ली परोक्ष ने कठिन परीक्षा, क्या प्रत्यक्ष हुआ है!
त्वरा नहीं अब किसी बात की, तिमिर समक्ष हुआ है !

तप्त आँसुओं लिखी महागाथा हिम-सी जम आई,
अनकही-सुनी लम्बी करुण कथा थी, हो कम आई !

अनगढ़ पत्थर बना न प्रतिमा, रेखा आँकी-बाँकी—
हुई नहीं आलेख्य; न दर्शक को मिल पाई झाँकी !

चिह्न न जिस पर उगे उसी से मन-विहङ्ग उड़ता था,
दर्शन क्षुधित युगों का किन-किन मोड़ों से मुड़ता था !

पीछे भारी भीड़ खड़ी थी, आगे सब ब्रजवासी;
कुछ ने घुटने टेके, कुछ थे हाथ जोड़ उच्छ्वासी !

सभी देखते थे अपलक, सबकी आँखों में पानी,
छिपा रहे थे कृष्ण स्वयं को, प्रकटे ऋत्विक ज्ञानी :

"निह्नोतु सर्वतोमुखं गुण्यं पुण्यं प्रयतन्ते,
पुरो विवदमानाः प्रतिपक्षिण आक्षिपन्ति, विजयन्ते।

विप्रकीर्णमिव कृत्यं नित्यं दहति पुरोहितवर्गम्
प्रथितचर परिषदि भवादृशाम् कर्षति यागः स्वर्गम्

ये वा के वा भवन्त्विमे दृष्टाः पृष्टाः कुशलानि
अहमधुना नम्रीभवानि प्रत्याय्यान्याप्तकुलानि

शेषमशेषय कार्यमिहत्यं पूरय जनाभिलाषम्
त्वरते बिधिवेलाऽतिवर्ततेऽहो होमाग्नि-प्रकाशम् !

कहा कृष्ण ने कुछ पद-नख से, कुछ मख करते कर से,
आँखें उठ न रही थीं, पलकें झपक रही थीं डर से ।

मन्द-चरण चल दौवारिक आया, स्वर भर कर बोला,
इनके भोजन-भजन और विश्राम हेतु मुंह खोला ।

कहा कृष्ण ने : जहाँ द्वारका ? ब्रज का वहीं प्रकाश,
मत समुद्र को मथो, न हो मन्दर जब तक कैलास ।

माँ की ध्वनि लौटी है प्रतिध्वनि बनकर, छनकर नभ से,
क्षुब्ध, मुग्ध हो; किन्तु न देखे इन्हें दृष्टि निष्प्रभ से !

पानी की परछांई देखें, बिम्ब न इन्हें दिखाना,
ग्रहण सूर्य-शशि के भी लगते, सबको यही सिखाना ।

जीवन क्या है ? धूप-चाँदनी के कुछ खेल-खिलौने,
गगन बाँटता, धरती लेती मृग-मृगेन्द्र के छौने ।

उठना लख आलोक, तमस में रहस डूब खो जाना,
जन्म-मरण जीवन-सागर में कुछ बुलबुले उठाना !

जीवन सञ्चय, मरण सभी कुछ दोनों हाथ लुटाना,
मरण प्रतिचरण, जीवन विगत-अनागत संग जुटाना ।

भला-बुरा, सुख-दुख जीवन के अनदेखे अवयव हैं;
पल-छिन बीत रहे, प्रगीत वह मरण-रणित नव-नव हैं ।

× × ×

मिली देवकी हुलस यशोमति से उछाल कर बाँहें,
एक लक्ष्य पर पहुँच गई हों ज्यों दो बिछुड़ी राहें !

हरि का बचपन एक संजोए, एक समेटे जीवन,
मरण-सिन्धु के तट पर फैले संस्मरणों के घन वन ।

दो विपरीत दिशाओं से आ दो मन मिले पुरातन,
कहीं फुहार न बादल-बिजली, दोनों सूखे सावन !

जकड़ रखा था जबड़ों ने, थे शब्द न सहज खिसकते,
क्षेम-कुशल उपचार सालता, स्वर भर अधर सिसकते ।

लगा डिठौना लो माई, किसकी हो कैसी दृष्टि !
दो माताएँ मिल बैठी हैं नई जनेंगी सृष्टि !!

ललिता के अनमोल बोल सुन जाम्बवती मुसकाई,
निकल रुक्मिणी और सत्यभामा भीतर से आई ।

"बाल सखा थे कृष्ण हमारे, अब तो वय पौढ़ाई,
तरुण अरुण देखा सबने, हमने कोरी लरिकाई !

"हमें स्वर्ग सुख मिला रखा था, स्वर्ग रहे देवों का,
ईर्ष्या थी न किसी से, लोभ न सुरतरु-फल-मेवों का !

'खेल कूद के रगड़े-झगड़े, युद्ध न देखा आँखों;
कैसे कंस मरा, न हुआ था ज्ञात हमें तो पाखों ।

"दूर न थी कुछ मथुरा नगरी, लौटे पर न कन्हैया,
समझ गए हम, मध्य धार में डूब गई अब नैया ।

"सूर्य-सुता में वाष्प-दाह, कीचड़ से भरे किनारे,
चाँद न रहा शरत् पूनम का, टिमटिम करते तारे ।

"गोकुल से गोपाल गए, गौओं की दशा न देखी,
झुरे बारहों बन, मुरझे मन, सूखी दूब न लेखी ।

"हुम्बारव से जीवन की नीरवता भर लेती थीं,
दुग्ध-धार कर क्षार अश्रु झर-झर-झर झर लेती थीं !

"गोष्ठ छोड़ कर दूर भाग जातीं पथ हेर रही ज्यों,
चारा-पानी छोड़ घंटियों से थीं टेर रही ज्यों !

"कुछ दिन कैसे सरे उगा कब था सूरज, कब डूबा,
जान नहीं पाया कोई, था जीवन से मन ऊबा ।

"बस सुनसान उदासी की लहरों में आँखें तिरतीं,
डूब-डूब उतराते सपने, पलकें कभी न गिरतीं ।

"वायु बहा ले जाती, बौराई सुधि फिर-फिर आती,
दिन चढ़ता, सन्ध्या झुकती, बदली अम्बर भर छाती ।

"रुकी-थकी गायों का अन्तर उफनाया धीरज खो,
सन्नाटे में स्वर गूँजा कृष्णा का, सारा ब्रज रो—

"पड़ा, कृष्ण ने रूप देखकर अपना नाम दिया था;
कामधेनु ही ढही प्रथम, सुरपुर का काम किया था !

तरी सुजाता, मरे वत्स विधुशेखर और अनामा,
कुछ दिन चढ़ते-चढ़ते औ' कुछ ढलते ढलते यामा—

गिरे कुसुम्भी कार्त्तिकेय, कुङ्कुम-बासन्ती सोई,
बछड़े के पीछे इरावती, शिप्रा झर झर रोई !

सब सूधे अनबोले भोले, बाँके कुँअर कन्हाई,
गौ-बछड़ों को शेष श्वास-ध्वनि इनतक पहुँच न पाई !"

चन्दन, अगुरु, माल्य का सौरभ एक ओर से आया,
कस्तूरी का तिलक, दिव्य आभरण दृगों में छाया;

यहाँ रुक्मिणी किन्तु खड़ी थीं अङ्गराग-परिमल में,
खिली पद्मिनी मधुकर-वलयित ज्यों हो पङ्किल जल में !

कुसुमित तरुओं-तले खड़ा था पटमण्डप पञ्जर-सा,
शरनिषङ्गधनु धरे सुरक्षक, भीतर खग-कुल स्वर-सा।

नयन सुवर्ण रुक्मिणी के थे ललिता के अहि कुन्तल,
छद्म विनय ज्यों सद्म अहं का झङ्कारित किङ्किणि कल।

जीवन भर का अर्जन-वर्जन सन्तापित अन्तर का,—
ललिता लिए खड़ी थी, आश्रय ज्यों हो मिला अमर का !

"फिर क्या हुआ ?" मरण मन-भाया पाया मङ्गलकारी,
दुख बिछोह का सहना क्या, जब मरण शरण, बलिहारी।

लेखा करता कौन ? निहोरा भी करता तो कैसे ?
ठाने बैठा हो मरने को सारा गोब्रज जैसे !

पाँव तोड़कर गिरी मङ्गला, मन लवलीन कहीं था,
अश्रु-वृष्टि की दृष्टि-नन्दिनी ने चहुँओर, नहीं था—

अब अपना गोपाल, विकल लख आगे त्यागे प्राण,
लक्ष्मी, मनुआँ, लता, माधवी ने फिर किया प्रयाण।

अन्तर की ज्वाला में जल-जल जीना उन्हें न आया,
कैसा नाम ! काम क्या ! ऊपर उठा-उठाकर ढाया !

निरुद्देश्य क्या जीना-मरना गिन गिनकर निश्वास,
त्याग गया गोपाल, करें किस दूजे पर विश्वास !

"रजत-जयन्ती मञ्जु, मञ्जरी. सुधा-माधुरी, मिनी।
कजली-राजकुमार, पाटला, पुरवी, विजया, गिन्नी।

"ऋचा, कुन्द, मुचकुन्द गए सब रथ-पथ पर टक बाँधे,
ब्रज में रज उड़-उड़कर फैली, रहा सांस तम साधे।

"घूँघरवाले सिर, औ दूध दँतुलियों वाला मुखड़ा,
देख-देख गाएँ जीती थीं, अनदेखे चित उखड़ा।

"बाँह उठाकर कजरी-धौली को थे टेर बुलाते,
घाम-भूख लगती न उन्हें थी, बछड़े गोद सुलाते।

"साँझ ढले गोरज लिपटाए, सुबल-सुदामा भागे,
मोर मुकुट मणि कुण्डल-किरणें छिटकीं आगे-आगे।

"बछड़ों की सुधि दूध चुआती, रह-रह धेनु रँभाती,
ग्वाल-बाल की मुदित मण्डली चली नाचती गाती।"

कहा रुक्मिणी ने : तुमने कैसी करुणा उमड़ाई,
निपट निराशा की, विषाद की ज्यों कुहेलिका छाई।

मैं विश्वास दिला न सकूँगी, उड़ीं न मेरी पाँखें;
देख रही पर गोकुल की गौओं की आकुल आँखें।

"ऐसी संवेदना, विरह यातना असह्य, सुमन-मन—
पशु-पंछी के जहाँ, अतुल वह धन्य-धन्य वृन्दावन।

"नींद तुम्हारे चकित नयन में अयन नहीं पाती है,
कुछ मनुष्य की दशा सुनाओ" "दीख कहीं पाती है ?—

टोली आई है ब्रज की, झोली भर धूल लिए है,
जीवन की व्यर्थता दृगों में, उर में शूल लिए है।

डगमग करते पाँव मन्द कितना अवसाद पिए है,
निरवधि दुख के दिन गिनती जाती किसलिए जिए है।"

—सूखी हँसी हँसी ललिता देवी, मनुष्य का क्या है ?
कहता : रीता गया पुनर्वसु, लाभ पुण्य का क्या है ?

मरने से डरता, जीने के उसके लाख बहाने,
कभी नियतिवादी जग कह ले, कभी विवेकी माने।

भूखा वह सम्मान मान का प्रत्यञ्चा का बाण,
किस पर छूटे, करे धराशायी वन गति प्रतिमान !

बुद्धि माँजकर चमकाने को पढ़ता वेद पुराण,
अनुचित को कर उचित प्रमाणित सकता है अभिमान !

क्षितिज किसी का छोटा पड़ता, पन्थ बहुत हैं लम्बे,
कोई बाण-कृपाण चढ़ाकर जपता—जय जगदम्बे !

हैं मनुष्य के रूप अनगिनत, देव भी न गिन पाएँ;
रो अबोध-निर्दोष, छद्म-छल-धनी रात दिन गाएँ !

नूतन तन में सँचे पुरातन, कुछ प्राचीन नया मन,
लघुतम झाड़ कि रहा बड़प्पन, छिपा महत्तम छुटपन।

जीवन में घुन लगा हुआ है, देवदार दिखता है,
क्या मनुष्य का ? भाग्य-लेख अपने हाथों लिखता है !

किस कांटे में तुले खोखलापन मेरा ही, बोलो;
हुई नहीं अस्तित्व-शून्य, मेरा भारीपन तोलो !

ओ रानी रुक्मिणी, करूँ विनती, न और कहलाओ,
दिन-दिन भर चल-चलकर हूँ मैं बहुत थकी, सो जाओ।

इधर लौटकर कृष्ण नए उत्साह-समेत विराजे,
पुनः पुरातन संस्कृति को जीते, नव अनुभव माँजे।

थी श्रद्धा निर्धूम धधकती, यज्ञ कुण्ड ठंडा था,
काम्य नहीं कटना परम्परा से, क्या संस्कृति गाथा ?

नया मूल्य-संघर्ष आधुनिक टूटा कटा क्रमिक से,
अपने मूल्यों का सस्थापन देता मुक्ति क्षणिक से।

अपना धर्म सदा ही अपना, है परधर्म भयावह,
पहले थे कह चुके, कर रहे थे अब सर्व सुखावह।

समित्समिद्धमग्निमर्चयितुं ऋत्विक् प्रपठ्य मन्त्रम्,
प्रत्यवाच महितम्पुरोहितं विरचय कुशचय-तन्त्रम्।

स्रुवा आज्य में डुबो थमाई उलझा नई पवित्री,
कुश-मुद्रिका उँगलियों में पहनाई पुण्य-सवित्री।

सामगान प्रारम्भ हुआ स्वाहा-स्वाहा ध्वनि से घिर,
अज्ञ-विज्ञ सब ग्रहण नहाने उधर लगे जुटने फिर।

[❋ आओ अग्नि-देव, आहुति लो, सुर-गण-सहित पधारो !
मेरा जीवन-यज्ञ सफल हो, सबको स्वयं पुकारो !!

चले तेज-रथ मेरे स्तुति-पथ पर, उन्मुक्त तुम्हारा,
तुम समर्थ माध्यम बन, पृथ्वी पर सुर-लोक उतारो !

अग्निदेव, हैं यज्ञ तुम्हारे सकेतों से होते,
धूम-मलिन मन में जन-गण के अपना बिभा उभारो !

लुटा रहीं हैं रत्न-शिखाएँ सार्थकता सपनों की,
लपटें तम पर झपटें, तुम अङ्गारों में हुङ्कारो !

अन्तरङ्ग-सङ्गी पुण्यों के, सबल सखा प्राणों के,
अतिथि परम प्रिय, गान सुनाता, पथ की थकन निवारो।

श्री, सुख, सौरभ बुनो, निःस्वता विकल विश्व की ढक लो;
अग्निदेव, तम में मानवता; लपटें उठा उबारो।

लय की सिद्धि, साधना-स्वर की, मेरे गान सुनो तो,
प्राण तुम्हारे जुड़ा जायँगे, सोम-चषक कर धारो।

अभिवादन का स्वर उन्मादन, तेज तुम्हारा लहके,
लूँगा खींच शून्य से, तुम क्यों तम में प्रभा पसारो ?

मथ कर तुम्हें अरणियों से ऋषि ने साकार किया था,
विश्ववन्दय यों ही न हुए तुम, सोचो और विचारो !

अग्नि देवता, तुम भूपर हो, ऊपर सूरज-चन्दा,
मैं प्रकाश-मण्डल का वासी, मेरा सुयश सँवारो !

❋ ओज अजित, तेज अमित अग्निदेव दो,
अरि का संहार करो, नमस्कार लो !

यज्ञों के हव्यवाह देवदूत हो,
गद्गद वाणी का उद्गार-हार लो !

श्वास-समीरण से धधकाती है जो,
स्तुति वह स्तोताओं की न्योछावर हो !

अग्निदेव अविरत आराधक हम तो,
शुद्धि बुद्धि की, उर का सुरसिंगार लो।

रुद्र-वह्नि-हेतु प्रार्थना समर्थ लो,
अग्नि, यज्ञमण्डप के अलङ्कार हो।
सोम-पान के निमित्त देव, पधारो,
मरुद्वह्नि की, उदार, सुन पुकार लो !!
ज्वाल-माल झलमल ज्यों अश्व-चँवर हो,
अध्वर-सम्राट प्रणति, नमस्कार लो।
भृगु-समान ज्ञानवान वडवानल ओ,
कर्मकाण्ड के प्रकांड हो, विचार लो !
अग्नि को प्रदीप्त करे अग्नि-तुल्य जो,
भाव बुद्ध शुद्ध हृदय-परिष्कार हो !
सूर्य प्रभापूर्य्य अन्तरिक्ष अग्नि हो,
तन-मन-पावन सँवार ज्योति-ज्वार लो !

※ ज्वाल जावक, भाल पावक की गही न शरण ?
तो किया क्या यज्ञ–ऋत्विक् शुद्ध अन्तःकरण ?
तिग्म–तीक्ष्ण पिशङ्ग पिङ्गल ये स्फुलिङ्ग अभङ्ग;
असुर शासक विघ्न–नाशक भक्त–मङ्गल-करण,
अग्निदेव, डसा कुशासन, करो पावन परम;
देवदर्शनलालसी नर के निकट धर चरण !
तापकारक पापपुरुषों को ज्वलन, उद्धार,
क्षार कर दो मर्म-वर्म अनिष्ट चिन्ता हरण !
कुशल अश्व सुरथ तुम्हारा वहन करते नित्य
जवन पवन समान लाओ खींच ज्योतिर्वरण !
तेज की स्तुति रङ्क भो, धनवान भी करते,
सर्वपूज्य उपास्य सब के धान्य धन भव–भरण !]

※ सामवेद

× × × ×

आँखें दूरी पार नहीं कर सकतीं, घिर जाती हैं,
छू सकते हैं ऊपर छतरी बदली की पाँती है !
ढूँढ थको न अदृश्य दिखेगा दृश्यों के मण्डल में,
समय गँवाते नयन गड़ाते क्यों धनु-आखण्डल में ?

घूम-घूम कर लौट यहाँ आते हैं, क्या खोया है ?
किस फल की कामना फूलती ? आगे क्या बोया है ?

हल्के होंगे कहाँ नहा कर ? जीवन क्यों भारी है ?
सौंप सकोगे स्वत्व उसे, जिसकी संसृति न्यारी है ?

कुछ पग ने खींचीं रेखाएं, कर ने रंग भरे कुछ,
कभी खिलखिलाए चित्रों पर बोले व्यङ्ग-भरे कुछ ।

द्रुम महके, खग चहके, कुछ लहके धुँधलके ललौहें,
कुछ उदास-से खड़े किनारे, गिरती-चढ़ती भौहें ।

किन्हें सौंप दें धुंधली स्मृतियाँ, कहाँ लुटाएँ सपने,
वन-पर्वत चुप, मेले में सब के सब अपने-अपने !

गिरा गर्त में पूर्व पुरातन चूर्ण किया, रीते हैं,
वर्तमान भी बीता, अनजाया भविष्य जीते हैं !

लाल घटाएँ उठीं, पूर्व का जलने लगा प्रकाश,
जल-तल पर प्रचण्ड परछाईं हुआ राख आकाश ।

अतिनिष्ठुर निस्तेज प्रात, ठहरा-ठहरा बन-वात,
पेड़ों पर औंधे लटकी थी मरी हुई-सी रात !

युग चेतना हुई थी सक्रिय जग की भागीदार,
मनुज विनाश देखने आया था अपना दुर्वार !

विकृत हो गया सत्य सनातन, झूठा, घिसा, उबाऊ,
विमल मलिन, अनुभूति वाग्मिता, पुण्याचरण दिखाऊ !

न्यायोचित हो स्वच्छ शुद्ध जीवन जन का धरती पर
इसीलिए आकाश जल रहा, ग्रहण भोगता दिनकर !

बहुत प्रतीक्षा की धरती ने चुप्पी साधे गहरी,
आँखें मूँद सहे उत्पीड़न, क्रन्दन सुन-सुन बहरी ।

फूटीं आँज आँज आँखें नभ की, अपने को देखे !
ठगे गयों के अर्ध सत्य, आधे सपने को देखे !

पिछली अनुभूतियाँ गईं बुझ, ग्रहण नहीं यह पहला,
'होगा प्रलय'—भविष्य-वचन सुन वर्तमान है दहला !

कैसी-कैसी अभिलाषाएँ, हृदय-भरी आशाएँ,
हुईं इकट्ठी ग्रहण नहाने, पास दूरियाँ आएँ !

जो संशय में मुरझ गए हैं, खड़े रोंगटे जिनके,
मानव की अभिशप्त पीढ़ियाँ पंख कटे हैं जिनके।

बुझे-बुझे-से नभ के नीचे तृण पर गिरी बिजलियाँ,
वे सब ग्रहण नहाएँगे क्या ? जल में मरीं मछलियाँ !

आग बुझ गई जिनकी जल कर, ओझल हिम को घाटी,
सम-शीतोष्ण नहीं, शव-जैसे; पथराई-सी माटी !

उगे-उगे, डूबे-डूबे, तन-मन की बन्द खिड़कियाँ,
सर्वसहा नहीं प्रज्ञा, अलसाए सहें झिड़कियाँ !

साथ-साथ जीना जाना जिनने न स्वार्थ के वश हो,
एक साथ मरने आए, प्रख्यात प्रलय का यश हो !

जीवन का क्या, जीना ज्यों-त्यों, उचित मान से मरना,
हाथ-पाँव पटको जीवन भर, मरण-सिन्धु क्या तरना !

सप्त-सरित्, पर्वत सप्तक, आहुति पुस-सप्त प्रदाता—
जुड़ अध्वर्यु और ब्रह्मा सम-स्वर होता-उद्गाता

सामगान में घुला प्राण-मन वातावरण गुँजाते,
कुछ स्वर-सुरसरि में डूबे, ह्रद में कुछ ग्रहण नहाते !

※ [स्वर्ग-स्वर-वन्दित सुरेश्वर धराधीश्वर धन्य
साङ्ग जङ्गम-जीव-जीवन सलिल-सम्भव-शरण !

यज्ञदेव हविष् हमारा स्तव नवल के सङ्ग,
वृन्द वृन्दारक पधारे स्वर्ग से, कर वरण !

दीप्ति-दमक तुम्हें समर्पण हैं स्तवन करते
शुद्ध वातावरण कर दो प्रार्थना कर श्रवण !

क्रान्तदर्शिन्, अन्न-धन से तुम्हें धधका तृप्त
रत्नमणिमाणिक्य पाते दैन्यचिन्ताहरण !

विश्व-दर्शन-हेतु केतु कि रश्मि रवि-हवि को
प्रज्वलित सूर्याग्नि को करती—प्रखरतरकिरण !

स्तुति करो द्युति-पुञ्ज पावक की यजन-विधि-मध्य
सत्यधर्मा तेज रिपुसूदन अमङ्गलहरण

दिव्य जल यज्ञाङ्ग, पूर्ण करे अभीष्ट प्रशस्त
पेय हो कल्याणकारी मधु सुधा-संक्षरण!

सत्यसंरक्षक, कहो किसविधि करूँ संस्तवन
धेनुसंवर्धन करो, हो स्वस्थ मन आमरण!

× × ×

※ यज्ञों में प्रदीप्त पावक का हम गुण-गान करें!
विश्व-मित्र, अविनश्वर, ईश्वर,—स्वर-सन्धान करें!!

अभय प्रथम प्रार्थना हमें दे, संरक्षण दूजी,
स्तोत्र तृतीय, चतुर्थ हमारा अविरत त्राण करें!

अरुण अरुणतम, उज्ज्वल अनल, विभूति भरे पावन
भरद्वाज-हित ज्वलित हमारा भी कल्याण करें!

आहुति-तृप्त कृशानु तेज-ऐश्वर्य्य लुटा देते,
प्रणति-प्रसन्न प्रपन्नों को धन-धान्य प्रदान करें!

गृहस्वामी हे असुरनिकन्दन, नन्दन मङ्गल के,
स्तोताओं के गृह में स्वर्गिक द्युति-निर्माण करें!

दीप्त उषा में अग्निदेव सुरलोक जगा देते,
प्रणत होतृगण; मन-मन्दिर में ज्योति-बिहान करें!

अनल सुदर्शन व्याप्त विश्व में, प्रेय श्रेय से प्रेरित,
सुत-वनिता, धन धान्य दान उनका; सम्मान करें!

सर्व-शोक-हर कवि हैं, ऋत हैं तेजोदीप्त महान,
क्यों न प्रणत जन वृहद्भानु का नित आह्वान करें!

पावक सस्य-सम्पदा के पावन धन करें प्रदान,
हम दें धृत-आहुति, स्फुलिङ्ग-मुख सुयश बखान करें!

अग्निदेव हैं हर्ष बरसते, भरे-भरे धन के घन,
स्तोम-सोम आनन्द-कन्दली-कन्द विधान करें!]

× × ×

※ आमन्त्रित करता अभिमन्त्रित अग्निदेव देदीप्यमान को!
यज्ञ-याग के राग-रँगे को, देव-दूत विज्ञानवान को!!

वन-वासी हैं, अरणि-शरण हैं, होते ज्वलित शुद्ध समिधा से,
पर-हित हव्य-वहन में तत्पर अमर-समाज-विराजमान को !

गिरा निराली स्तुतियोंवाली प्रस्तुत हो हर घड़ी हमारी,
यज्ञ-कर्म के धर्म-निदर्शक,—नमन करें यजमान-प्राण को !

हम वरेण्य संरक्षण-इच्छुक, भिक्षुक झोली खोल ऋचाएँ—
अर्पित करते मरुत ब्रह्मपति, उक्थ-यज्ञ-गत शिखावान को !

विपुलज्वालमाली बलशाली अनलदेव का विरुद बखानें,
संरक्षण, धन-भवन-कामना पूर्ण करें; नति शुभ-प्रमाण को !

श्रवण करें प्रार्थना, पधारें—मित्र, अर्यमा-सहित सकारे—
यज्ञ-भूमि में सजे कुशासन; प्रणति हव्यवाहन महान को !

यज्ञधूम पर्जन्य-प्रजापति, अग्नि इन्द्र-प्रतिरूप-रूप-धर;
माता पृथ्वी हव्य-द्रव्य से स्वर्ग पोसती, सुर-वितान को !

इन्द्र जहाँ भी हों, त्रिभुवन में स्वाहा-स्वर सुन सगुण पधारें,
आहुति सुमुख अग्नि-मुख से लें सुखद करें हवनीय-दान को !

निर्जन वन की हौंस हिए में लिए, सलिल में असह निवर्तन,
मातृ-अङ्क में शिशु-से शोभित अरणि-रणित नति अग्नि,
गान को !

जन-जन-हेतु ज्योति ले निकले यज्ञ-भूमि में ब्रह्म-प्रतिष्ठित,
कण्व-निमित्त प्रकाशित ऋत से नमस्कार करुणा-निधान को !।

※ सामवेद

× × ×

एक हुआ बहु, सब पर कैसे एक साथ हो दृष्टि ?
समदर्शी कोई हो कैसे ? विषम, विविध है सृष्टि !
स्व-पर न हो कोई कैसे ? बनता कैसे सम्बन्ध ?
पथ-भूला अथ से कहता है पथदर्शक को अन्ध !

सभी सृष्टियाँ सदृश, प्राकृतिक हों या शुद्ध कलात्मक,
सब के मन को छुएं एक-सा सम्भव नहीं, छलात्मक—
अर्ध सत्य को अबुझ समझ ले, हँसे ठठाकर कोई,
बहुआयामी सृष्टि सकल, तर्जनी उठाकर कोई—

हल न निकाल सका हलचल का, दोनों छोर न मिलते,
फूल फूलते हैं जितने, उतने विचार भी खिलते !

सब क्या रेखाङ्कित हो सकते ? सब का मूल्य समान—
आंका जाता ? सहज-गहन ऋजु या सायास महान !

सृष्टि समस्यामूलक, सृष्टि समान्तर, प्रश्नातीत,
मानवीय भी दिव्य, अचूक, उदात्त गीत-संगीत।

निरपवाद स्वच्छता उक्ति में, प्रस्तुति भूति-विभूति
शक्ति और सौन्दर्य समीकृत भाव-कल्प-अनुभूति !

क्या अभाव पहले में था, क्या आविर्भाव नए में
क्यों भविष्य झाँकता नियोजित चुनके बीत गए में ?

संघर्षी संस्कार, पुराना-नया जोड़ता आया
कुछ पतझर में झरा, भरा कुछ सकुच छोड़ता आया !

व्यङ्ग और विद्रोह फटा ज्यों दूध अम्ल से मिलकर
सङ्गति और समन्वय से जीवन जमता तिल-तिल कर

पूरक कौन, कौन विस्फोटक, सार्थक और निरर्थक,
स्पष्ट दृष्टि के बिना खोजते भेद शब्द क्या द्व-यर्थक ?

मुकुल मनुष्य कुसुम बनने के लिए हवा है खाता,
बनने को झङ्कार-तार लोहा पिटता, खिंच जाता !

× × ×

अर्जित कर अतिरिक्त शक्ति निर्बन्ध असुर दुर्दान्त
होते पतित; अर्ध-उत्तेजित होती ऊर्जा शान्त !

प्रेय प्राप्त होता पापों से, अभिशापों से ग्रस्त,
असुर सद्य सुख का अभिलाषी, सदा श्रेय से त्रस्त !

मिथ्याचार-विचार उसे प्रिय निर्विवेक, उद्दाम,
कार्याकार्य, अशुद्ध-शुद्ध से उसे नहीं कुछ काम !

भारत का कल्याण त्राण मानवता का प्रतिमान,
भारत है तो बन्धु विश्व-जन होंगे, प्रकट प्रमाण !

विघ्नों का पहाड़ छिगुनी पर उठा, न कर अभिमान,
सुप्त विश्व मानवता का फिर होगा नया विहान !

भवें न हों टेढ़ी, पलकें हों झुकी-झुकी न मनुज की,
स्वार्थ न टकराए न रणेच्छा अग्रज और अनुज की—

फिर पनपे; घन का घमंड विद्युत की स्मृति से नत हो,
नयन आयतन करुणा के, मन शुद्ध, बुद्धि संयत हो !

व्यासदेव औ' भीष्म पितामह ने क्या मुझमें देखा ?
मैं उनकी कल्पित पुरुषोत्तम छवि की बना न रेखा !

अर्जुन भक्त हृदय ने माना मुझे व्यक्त भगवान;
लौटाया सौभद्र ? बचाए द्रौपदेय के प्राण ?

देख युयुत्सु स्वजन-पुरजन को कांपा था कौन्तेय,
मुख सूखा, सर्वाङ्ग शिथिल, था काँप रहा दुर्जेय

मैंने दिया प्रबोध उसे, कर्त्तव्य मार्ग को शोध,
मान लिया निर्देश, गए टल प्रखर-बुद्धि-अवरोध !

मुझ पर कर विश्वास उठा गाण्डीव, बाण सन्धान,
मन्मय अर्पित हुआ, स्वयं को था निमित्त भर मान !

और नहीं तो किसने मेरा कहा-सुना है माना !
जग लगता कल्याण कार्य में, बना बीर का बाना !

हाथ हमारे होंगे जैसे, वैसी सेवा होगी,
स्वस्थ रखेंगे कैसे तन को, जब होगा मन रोगी ?

श्याम निशा में हम देखें सपना प्रभात निर्मल का,
तब, जब जागेंगे, दुख होगा नहीं आज को कल का !

करो रतजगा, दिवास्वप्न देखो दिन-दिन भर सोकर,
उठने पर जो हाथ लगे, स्वीकारो हँसकर, रोकर !

जीवन और मरण नियमित हैं, अपनी सांस संभालो,
अमृत-गरल सब ठौर मिलेंगे, गाँठ खोलकर ढालो !

मधुर और कटु प्यासे प्राणों को समान लगते हैं,
दृग भर कर उर भरो, सूर्य-कर मरु-मृग को ठगते हैं !

उठ जाऊँगा तो बोलेंगे लोग : न था क्या कृष्ण ?
कर्णामृत घोला ? अग-जग, पर सब दिन रहा सतृष्ण !

क्या होना दीर्घायु ? न रण करता था अमर मरण से !
जीवन सिन्धु रहा लहराता काम न उसे तरण से !

कहता : स्थितियाँ लाईं थीं विपरीत परिस्थितियों में !
मृत्यु नहीं रहने देती निःसङ्ग विसङ्गतियों में !

जिधर बढ़ाया हाथ, उठाए पग, वह धरती थी न !
निस्त्रैगुण्य कौन हो ? गिनता रहा एक-दो-तीन !

पथ का अन्त अनन्त बताता जब हो आदि अनादि,
इति का आदि, आदि को इति, क्या है रहस्य इत्यादि ?

हो आसक्ति न जो जग में, मग में आए आनन्द,
आना-जाना एक खेल हो, कोई खेल न मन्द !

व्यर्थ बुद्धि पर गर्व, व्यर्थ भावुकता पर पछताता,
वेणु-रन्ध्र से छनकर बनता प्राण गान; जग गाता ?

स्वर में भैंस, कण्ठ में कोल्हू पेर रहा-सा बैल,
तू क्या जाने, गोल नहीं, अटपटी गीत की गैल !

जले अमा के अन्धकार में या कि सूर्य्य-पूजन में,
दीपक को जलना ही जलना, जले भवन में, वन में !

पिछला खोया पाने को आने वाले को खोना
मानव प्रकृति भूत-भावन है, हँसते आता रोना !

रूप-हीन अपरूप-चेतना हो किस भाँति प्रकाशित ?
मन की मचलन, तन की जड़ता आत्मा से अनुशासित ?

धुँधली स्मिति-सी बाल चन्द्रमा जब नभ में छिटकाए
जननी जन्मभूमि के जर्जर अञ्चल की सुधि आए !

जन्म दिया तज उसे, तजा जिसने शिशु को तरुणाया;
सुना एक ने था रोदन, दूजी को वेणु सुनाया !

कुछ उत्पात किए व्रज में, मुँह पलट नहीं दिखलाया,
जब रणभूमि हुई मथुरा, छोड़ी; रण छोड़ कहाया !

पुरी द्वारका बसी-बसाई यहाँ उजड़ कर आई,
गरल भोगियों का पी-पी कर मूर्च्छित-सी मुरझाई !

इसे तजूँगा, पता नहीं, कब किसे त्यागता हूँ मैं,
ऊँचे चढ़ कर गरुड़-वेग से कहाँ भागता हूँ मैं !

मौन ध्वनित होता है, सब संगीत जिसे कहते हैं;
आत्मा का उत्सव है जग में प्रीत जिसे कहते हैं !

मुरली फेंक शंख फूंका, फिर तो दोनों को छोड़ा,
शुचि शृङ्गार, वीर उद्भट को समझा पथ का रोड़ा !

किस पथ का ? जीवन से चल जो मरण-ओर जाता है
बढ़ा ज्योति से आँख मिला जब, तिमिर घोर छाता है !

× × ×

लेनी होगी विदा विहँस कर, बतराते दिन बीते,
भरते नहीं हृदय हैं ऐसे जो सागर पी रीते !

कुछ बातें कहने की हों, कुछ स्वय समझ लेने को,
आने की कह लो, जाने को बात समझ देने की !

मानव-मन को करें प्रभावित ग्रहणोत्सर्ग-कलाएँ
रोएँ-धोएँ दुख पड़ने पर, सुख में नाचें, गाएँ !

उभरे संवेदना, वृत्तियाँ ढलें, मोड़ ले चिन्तन,
ग्रहण गढ़े अभिरुचि अभिनव, उघड़े प्रकाश, नभ-क्रन्दन !

भीड़ लौट जाए अपने घर, ढूढ़ें नीड़ विहङ्गम,
हुआ यज्ञ सम्पन्न, स्वस्ति हे सुन्दर स्थावर-जङ्गम !

अद्भुत क्षमता भरी पड़ी है सब के उर-अन्तर में,
ग्रहण झेल सकते तम तर, आ सकते ज्योति प्रखर में !

संस्कृति ऊपर उठ सकती है, राष्ट्र प्राण पा सकता,
मन रचना संरचना में हो मगन त्राण पा सकता !

बढ़ाबढ़ी या चढ़ाचढ़ी नैसर्गिक धर्म नहीं है,
हर पत्थर पहाड़ हो, यह तो श्रम का कर्म नहीं है !

हवन-साम अपने मग चलते, मन निगूढ़-पग छलता;
नीराजन के क्षण, जीवन धनसार लहकता, जलता !

योगेश्वर कहला कर सहलाई अस्मिता गगन की,
भटक रही है यहाँ-वहाँ मति, यह क्या वृत्ति मगन की !

आगे भी यह सब होता था, हृदय रहा कब रीता,
अन्तकाल में, अन्तःपुर में बिसर गई रे गीता !

छन्द वेदना के अन्तर में बन्द वन्दना के-से
प्रास्थानिक क्षण बाँध रहे हैं लय में स्वर तिगुने-से !

उज्ज्वल ज्वाल-माल पर पड़ती प्राणों की परछाईं
बुद्धि बरजती, मन में बातें दुर्योधन की आईं !

अश्रु-हास कितने ही देखे, जीवन को रण माना
सब के सोखे प्राण, दर्पवश अपना मरण न माना

अन्त देख कोई न सका दुर्योधन ने था देखा
चित्र सभी के बने अधूरे, उसकी रेखा-रेखा—

थी समग्रता के रंगों से रंगी, अनोखी आभा—
फैल रही थी क्षत तन पर; मुख रक्तकमल का गाभा

क्षात्र तेज के साथ मरा वह, धर्म मर्म है गहरा,
दोषी ठहराया, भला-बुरा कहा, रहा मैं बहरा !

रक्त-स्नात अवदात-गात था ऊर्ध्व-ऊर्ध्वतर-चेतन
कीलों से मुँह जड़ा पड़ा था उड़ा धर्म का केतन !

तोड़ शृङ्खला मर्यादा की, उगल तर्क-कर्कशता
'जैसे को तैसा' ही कह पाया था मैं तज ममता !

मन का घाव रहा था रिस, था हृदय पिण्ड थर्राता
थे अजेय तुम धर्म-कर्म से, मैं कैसे कह पाता !

अँधियारे में धर्म दीप है, उजियाले में सूरज,
एक बिन्दु ऐसा भी जो तज देता आतप तम व्रज !

साहस मैंने किया वहीं से, वही बिन्दु मेरा था,
सब के नभ को शुक्ल चन्द्रमा, कृष्ण इन्दु मेरा था !

निर्भय, निरातङ्क था मैं, कुछ अपने लिए नहीं था;
जगमङ्गल का सत्य, धर्म के सपने लिए नहीं था !

वर्जित-गर्हित सत्य नहीं होता निःस्वार्थ रहा जो
सत्य स्वार्थ-सपुटित शास्त्र-सागर में व्यर्थ बहा जो

शास्त्र शस्त्र है, अनुशासन है स्वेच्छाचार-निरोधी
धर्म-प्रवर्तन यह मेरा है हृदय-बुद्धि अविरोधी !

भीष्म, द्रोण या कर्ण महारथ मुक्त हुए, न पराजित
अँधियारे में पड़े हुए ये, यों शाश्वत-उद्योतित !

उनका वास्तव रूप निरूपित हुआ महाभारत में
वह ऊँचे-ऊँचे उड़ते थे, उड़े, खिले न अपत में !

× × ×

चलने की आकांक्षा तेरी खिली फूल-सी तरु में
नभ देखा सिर रख गोदी में ज्यों मरीचिका मरु में

तेरा दिया हुआ जग लेकर भ्रमा ज्योति में, तम में
अपराजित अश्रान्त रहा बाहर, भीतर सम्भ्रम में

शेफाली की तीव्र गन्ध से बिंधी शरद-सी आत्मा
नील नीरधर नभ में विद्युत-हँसी हँसे परमात्मा !

ढाना और उठाना जिसकी लीला है, हो कोई
ठोंक जगाएगा आत्मा को, छोड़ न देगा सोई

छोटा था फिर बड़ा हो गया, अच्छा छोटा होना
पारस परस खरा हो आया बुरा न खोटा होना

सबको संग-साथ ले चढ़ना चाह रहा था छूटा,
चढ़ना अपने ही बल सबको हार सहारा छूटा !

भेंट न होगी और, मुझे मिथ्या अभिमान नहीं है
माँ जो तुमने दिया, कहीं उसका प्रतिदान नहीं है।

जीवन तो है हँसी-खेल, विश्राम मरण की बेला,
नया खेल आरम्भ करें, हो निशा की न अवहेला !

बेला सजल विदा की, आये गए बहुत हैं आगे
चिर-विछोह की सोच नहीं उठते, कोई क्या भागे !

मटियाला धुँधला-धुँधला सँकरा-सा पन्थ नहीं है
जीवन की अन्तिम यात्रा है, पैतृक ग्रन्थ नहीं है !

लेना है लपेट रंगों को रीते प्राण न ऊबे,
ढुलके मोती-सा न किनारे संकल्पों में डूबे !

अमरवल्लरी नहीं स्पृहा, मन ढूँढ़ नयापन फूले,
कान सुने, सुनसान सुनाए गान, पवन-सँग झूले !

सुखासीन माता को देखा सस्मितमुख दुख पीकर
कृष्ण कृताञ्जलि अभिवादन कर झरे अमिय-बिष-सीकर :

तिग्म-तेज क्या हुआ महातप ? पय में पड़ी खटाई ?
धर्मशीलता, प्रज्ञा थी घुट्टी में गई पिलाई !

रत्नप्रसू फल-शस्य-शालिनी मिट्टी हुई धरित्री;
कुश की कोर पोर में चुभती, काँटा-सुई पवित्री ?

गरल पिलाते रहे परस्पर भग्नोत्साह स्वजन जब,
जूझ मरेंगे यहीं कहीं माँ, अब परिजन, पुरजन सब !

हो पुरुषार्थ जिजोविषा प्रबल, तो अवसाद समान्तर—
—रह कर भी न तुषार बरस सकता प्रज्वलित शिखा पर !

किन्तु जहाँ अवसाद घना हो, लोग बना मुँह बैठे,
रस्सी जलती चली जायगी, कर कितना भी ऐंठे !

दुर्योधन आश्वस्ति-श्वास लेकर गद्‌गद हो आया,
'पाँचों पाण्डव पुत्र मरें'—सुन धूप हो गई छाया !

धर्म-अधर्म एक परिणति पर पहुँचे करते हा-हा,
वंश-वंश के संघर्षण से हुआ वेणु-वन स्वाहा !

अब यदु-कुल भी धधक बुझेगा उगा पीत भस्माङ्कुर;
डूबेगी द्वारका, सिन्धु कब होनेवाला गोपुर !"

"—सब प्रलाप ! गोपाल, प्रलय में भी तू है अक्षयवट !
अमर शब्द का एक अर्थ तू, हैं निरर्थ सब घट-पट !

दिया नया संयोजन, नूतन अभिज्ञान निज युग को,
शान्ति-मन्त्र आयुध-अस्त्रों को दधि मथ शाकलभुग् को !

खोल दिए वातायन कितने आर पार क्षिति-नभ के,
अन्तराल में देश-काल के, कान्तिमान-निष्प्रभ के !

उर-उर-लोरी नव भविष्य को, वर्तमान को साहस,
झाँक रहे उभरे अगीत को गीत प्रीत का नव रस !

फूल शिखर पर खिले हुए थे, दी तुम ने अञ्जलि भर;
ज्ञान बुद्धि पर था भारी, कर्मों से दिया सुलभ कर !"

"उद्धव ने बहुधा बहलाया; गाया गीता-सार;
दब जाता था सत्य श्रवण के नीचे सुन चीत्कार !

किन्तु अन्त में माँ, तुमने ये दे आशीष अमोल
गुञ्जा फल को दिया मोतियों से हँस-रो क्यों तोल ?

यह युगान्त का काल, इसे मैं युगारम्भ की भाषा—
किस विधि समझाता ? जब समराङ्गण को रक्त-पिपासा !

कैसे शब्द पहुँचते मेरे ? बन्द विश्व सारा है !
बादल नहीं, अँधेरा छाया; तड़ित नहीं, तारा है !!

क्रन्दन-कोलाहल को ढक कर गूँजी न श्रम की वाणी,
सब दिन प्रजा रहेगी धरती, होंगे राजा-रानी !'

श्रम-समग्रता बन जाएगी जब जीवन का गान,
व्यापेगी तब कभी न माया, ज्ञान लोक-कल्याण !

यों ही फेंका था क्या मैंने ठंडे तम में ज्ञान ?
चमकीं जहाँ रक्त-रेखाएँ, थे विरक्त क्या प्राण ?

आदि-अन्त की व्यथा, कथा मेरे न मध्य जीवन की,
निर्जल उज्ज्वल रेत, पुलिन पर सूखी धार सृजन की !

कितने रंग-रूप पर पहले तैरी थी यह दृष्टि,
जब न युद्ध के हेतु क्रुद्ध यह तनी खड़ी थी सृष्टि !

अब अपने कड़ुआए मन को तन सिकोड़ कर ढोता
जितनी धूल झोंकते हैं पथ, श्रम-कण से हूँ धोता !

पीठ टेकने के न चिन्ह मैंने अतीत पर छोड़े,
वर्तमान में गगन-सुमन मैंने न कभी हैं तोड़े !

सपनों की गुदड़ी भविष्य को होने दिया न मैंने,
पथ पर पत्थर, खेल-खिलौने ढोने दिया न मैंने !

रहे किनारे झाग उगलते, रहे किनारे ढहते,
था प्रवाह को सिन्धु पहुँचना निशिदिन बहते-बहते ।

होती उसे थकान, रात भर जो सुस्ताता; सोता !
निश्चल दृष्टि उसी की जो सातत्य देखता होता !!

स्वाद बदल सकता शब्दों से, अर्थ व्यर्थ रस ढोता,
टँगे खूँटियों पर दृग रहते, स्वप्न रात भर सोता !

जीवन आँसू से ढक सकता, अट्टहास सूखे से,
और अफर सकता चौंका-सा कौर छीन भूखे से !

भोला मुखड़ा तमतमा उठे जब करने विद्रोह
जाले-सा छा ले अँधियारा ले प्रकाश की टोह !

क्या बहुमूल्य अमूल्य जाय लुट बनने को आदर्श ?
बादल धूप उगाए ? बिजली दे मृदु तन को स्पर्श ?

ऋतुएँ देतीं बदल, उन्हें अच्छा-अच्छा विश्वास,
हरि भूमि को घूर लाल-पीला होता आकाश !

शैशव यौवन में रच-पच जाए, तारुण्य जरा में;
दम्भ छोड़ नभ उतर पड़े, क्यों पड़े दरार धरा में ?

पटें दरारें तो कैसे, ढक लेती भीड़ उन्हें घिर,
गुण है शब्द अशब्द गगन का, मिट्टी रह आई स्थिर !

पाने मुक्ति अचल चिन्ताओं से माँ, थीं तुम आई !
जवदी धार पार करने में जमती पग में काई ।

युद्ध विरुद्ध विषमताओं के, नद्ध रखा चिन्ता ने,
फेर पड़ गया, रह न सका औरों-सा लम्बी ताने !"

पा सान्निध्य यहाँ कुछ दिन भोगा जो सुख स्वर्गीय,
कहा यशोमति ने : तेरा सम्पर्क कि दशा तुरीय !

चुगा चुगा कपोतों को या बुझा मृगों को प्यास,
थी न रुकावट आई चञ्चलता में, चित्त उदास ।

रहती थी सङ्कुचित, शिथिल, आई आनन्द-उछाल,
पिघलीं ऊष्मा से पथरीली तुझे अङ्क भर लाल !

धूप-छाँह के मेले झेले, सौ सुधियों से सिहरी,
कितने ही ताने-उलाहने सहे असह रह बहरी ।

मेरे मन के झुरमुट में झलमला घोंसला तेरा,
उसे चिड़ा चिड़चिड़ा बना बैठा है रैन बसेरा !

लहक लवा की टेर चुलबुली चहक चटक की लगती,
शङ्का तुझसे निष्कलङ्क शशि की ज्योत्स्ना-सी जगती

पकड़ रख सका कोई भी क्या, कौन जकड़ रख सकता ?
छोड़ दिया मैंने क्या यों ही, कौंध कौन लख सकता ?

ऐसा खेला खेल, अन्त तक आँसू रही बहाती,
रहीं सुलगतीं ही साधें, मैं तड़प जुड़ाती छाती !

सब करतब पहचान चुकी हूँ, रंग न कब थे बाँधे,
अपने आप हँसी तेरी पीती थी चुप्पी साधे !

मेरी आत्मा तो खोखल है, परमात्मा न रहा अब,
आँखें पथराई घाटी, गोवर्धन ढहा बहा अब !

है सन्देह मन्दमति में, कब समाधान है पाया :
ठुकराया था यज्ञ बालपन में, कैसे फिर भाया ?"

सुनकर कठुआए पल भर, ज्यों-त्यों कुछ शब्द टटोले,
अनबोले खुल रहे भेद सब, कृष्ण हिचकिचा बोले :

भूख-प्यास लगने पर शिशु माँ की रट, बिलट लगाते
पेट भरा हो, खेल कूदकर अपना जी बहलाते !

समय बदलता रूढ़ि-रीतियाँ, नई नीति गढ़ता है,
जकड़बन्द जीवन रह सकता ? तम से रवि कढ़ता है ।

उचित लचीलापन, नियमों की कसाकसी जड़ता है;
क्षिप्र प्रगति के लिए कभी युग को अड़ना पड़ता है !

× × ×

मन में मुक्ति-ज्वाल जलती हो, जीवन लोक-समर्पित,
तो कोई सुर-असुर नहीं कर सकता हमें कदर्थित !

पूजा जहाँ परस्परता हो अर्पण सोच-विमोचन
मेंहदी घिसती हो पत्थर से पाकर रंग-प्रलोभन—

निभना वहाँ कठिन है, आत्मिक शक्ति जहाँ न प्रकाशित;
भय-सन्त्रास नहीं, हार्दिकता, बलि होना न प्रशंसित !

डैने फैलाने की सुविधा, उड़ने को आकाश—
जब न मिले, चेतना हमारी बन्दी, हम हैं दास !

यज्ञ एक आध्यात्मिक उत्सव, सामूहिक आह्लाद,
सब विपन्न सम्पन्न धन्य हों, मन का मिटा विषाद ।

नीचे क्रूर कंस का भय, ऊपर से इन्द्र डराए,
मुझसे सहन हुआ न, किया विद्रोह: सामने आए !

सान चढ़ाए कठिन कुलिश पर दलमल दुर्बल-दल को
छक्के दंगे छुड़ा, समझता खोखल नभ भूतल को !

वे दिन लदे, सही मनमानी, अब जग जाग गया है,
षड् ऋतुओं में आँसू बरसा कर हो आग गया है :

दुरभिसंधि हो गई असह: हो न्याय न, हो संघर्ष,
जन-अवसाद मिटा न सका, मन में भर सका न हर्ष ।

सुख सुविधा के लिए लड़े जीवन : दुविधा का अन्त—
ढूँढ़े मिलता नहीं, बीतते जाते शीत वसन्त !

नहीं सन्धि विग्रह से मिलती किसी देश को शान्ति,
विश्वविजयिनी भोगाकाङ्क्षा सिद्ध हो रही भ्रान्ति !

अन्तर की शून्यता नहीं तर्कों से है भर सकती
पूर्वाग्रह से स्वीकृति त्रुटियों की जड़ता हर सकती !

हृदय-मनीषा की सहकृति से तमस-कुहासा तरना;
संशोधन कर उचित नई आस्था को स्थापित करना ।

जीत युद्ध में क्रुद्ध राम ने सीता को न कहा क्या ?
वही यज्ञ में दृगजल से प्रतिमा को रहा नहा क्या ?

प्रविधि, नियम, आचार जकड़ लें, इसके पूर्व बदलना,
चेतन धर्म सतत गत्यात्मक, रुकना नहीं, संभलना ।

धूप सत्य है, किन्तु छाँह भी साक्षी है, सहचर है;
शब्द टूटते जहाँ वहीं स्वर का उठ जाता स्तर है !

सहमा-सहमा थमा अँधेरा, अगला दिन आता है !
पुरखों की शेषार्थ प्रार्थनाएँ भविष्य गाता है !

तोड़-उधेड़ सूत अनचीते नूतन बुनना होगा !
नभचुम्बी प्रासाद उठाने कंकड़ चुनना होगा !

सदियों से सञ्चित उत्थान-पतन की तीव्र व्यथाएँ
विषम समय की क्षत-विक्षत-सी बनतीं अकथ कथाएँ !

धाड़ मार रोते पहाड़, निर्झरी नाचती गाती;
जल-जल उठते वन-उपवन, जलधरी किन्नरी आती !

चुक जाता संगीत; अस्त्र-शस्त्रों का कटु कोलाहल —
दिशाकाश को ढक लेता; पीता पीयूष हलाहल !

फिर अतीत आता आगे भागे दिन ढूँढ़-बटोर
सुना आहटें पीठ थपकता निस्व अलख की ओर

चिपकाए विष-बसी हँसी, पलकों पर अश्रु सजाए
उकसाता रोने स्वर में; कोई भविष्य ले आए !

उलटा-पलटी, उठा-पटक हो उथल-पुथल थिर होता,
अगली आँधी की उधेड़बुन में प्रशान्त स्वर रोता !

एक भगोड़े बेटे की माँ लगातार सुन हार
होगी विकल पोंछ पथराई आँखें, टपका प्यार !

जड़ें फेंकती है आत्मा में परमात्मा की जोत
बहते दिए किनारे पर, जगमग जीवन का स्रोत !

भोले भाले, निर्विकार, ब्रजरज के चिकने मुखड़े
निरभिलाष तीखी आँखें जो नहीं सुनातीं दुखड़े

निर्विशङ्क आतङ्कित क्यों हों, क्यों लोहित सम्मोहित ?
कर्मठता की प्रखर धार हैं, और स्वयं ही वोहित !

ये मिट्टी के माधो जो होते पर से न पराजित,
पश्चात्तप्त, परास्त, प्रवञ्चित शोषक कर को अर्पित

नियम बुराई का क्या होगा, वह विध्वंस-विकारी
अच्छाई हार्दिक प्रसन्नता, शान्ति अमङ्गल हारी !

नैतिक उन्नति मानव का करती चरित्र-निर्माण
दृढ़ता से हैं इसे सँभाले नन्द और वृषभान !

ब्रज की रज चन्दन होगी, जीवन होगा निर्बन्धन,
श्रम कण मोती बन चमकेंगे, हरियाले मरु-तरु-तन,

स्वर्ग-वर्ग-ऐश्वर्य-पङ्क में हुई द्वारका मग्न,
वह बूड़गी अतल सिन्धु में खल, उच्छृङ्खल, नग्न !

माँ, सुन लेना, मैं न रहूँगा, श्रम की होगी जीत
नभ-चमके तारे हारेंगे, क्रम की होगी जीत !

× × ×

छेड़ रही था उधर रुक्मिणी ललिता को बहु वार
अब कब भेंट भला होगी, यह रह जाए न उधार !

सूर्य-चन्द्र के उदय-अस्त की, चहक-चहक रोने की,
कही कथा खिलने-झरने की, अनहोनी होने की;

किन्तु एकरस जहाँ हो गए आशङ्का-विश्वास
केन्द्र-बिन्दु पाकर पवित्रतम संस्थित प्रणय-विलास

प्राणों में ऊष्मा भरता, कानों में स्वर-शीतलता
पत्थर मन पर देहवल्लरी उगी म्लान उज्ज्वलता

धूसर धूल शुष्क ऊपर धरती की कितनी फाँकी
सीधी हुई कभी न बालपन से नव चितवन बाँकी

गूँज रहा जिसका नूपुर-सुर मलय पवन के स्वन में
जिसका मौन बिखरता तन्द्रिल तारों के कम्पन में

नभ से ऊँची, सागर से गहरी जिसकी अनुभूति
निर्जन वन की स्तब्ध किरण-सी करुण-मनोज्ञ विभूति

उस राधा की बात बताए बिना चल पड़ी कैसे ?
हम सब प्यासे मर जाएँगे थमी रस-झड़ी जैसे !'

"जय गणेश देवा, सेवा-फल मेवा-मोदक तेरा,
रक्षा कर, रानी रुक्मिन ने वक्र दृष्टि से हेरा !

मुसकाई ललिता : दैया रे ! उधर किधर मुँह फेरा !
बोल अमोल खोल मुँह बोलो, ऊपर से क्या टेरा ?

बिगड़ रहीं क्यों ? क्रोध हुआ ? मेरा अपराध बताओ,
स्वस्थ नहीं, कुम्हलाई-सी हो, सुरुचि-सुगन्ध बढ़ाओ !

व्यङ्ग-बाण छोड़े कितने ! राधा दबंग क्या ऐसी ?
जाए भाग त्याग गृह, राधा की उमंग क्या ऐसी !

राधा के रँग रँगा विरज है, रंग न चढ़ता दूजा,
अर्चन-आराधन क्या, करती निराकार की पूजा।

छाँह वृक्ष की, बाँह लता की—अब गिरि-वन अपने हैं
हर्म्य और प्रासाद खुली आँखों के सब सपने हैं !

झझक निकाल एक झटके में आँखें और न झपकीं
तलवों से आँखें मलने पर भी न वृत्तियाँ लपकीं।

फूलों-लदी डालियाँ, तारों-भरे गगन के कोने
अपलक कोई झलक देखती, देती उसे न सोने !

"माँ को आना था, हम सब तो संग-साथ हैं आए,
बालापन के खेल-खिलौने टूट-फूट छितराए !

'कबहुँ न होत नियार' विरज से; बहुरे रज में राधा ?
पूर्णकाम का कौन मनोरथ रहा अधूरा-आधा ?

राधा जन-मन की सम्राज्ञी, तुम राजा की रानी !
राधा झूठा सत्य नहीं है, राधा सत्य कहानी !"

मुखड़ा ठंडा पड़ा रुक्मिणी का, क्या ताके-झाँके ?
अति समीपता की दूरी किस विधि जीवन में आँके ?

खुली खिड़कियाँ जकड़ जड़ हुईं, बाहर से घर बन्द
प्राण फड़फड़ाते, कचोटता हृदय, अधर निस्पन्द !

—'वह सीमा त पूर्ण मेरा है, जीवन नहीं अधूरा,
फिर भी मर्म बेधता ही है स्वर मटियाला, भूरा !

"विवरण पाने की आकाङ्क्षा क्यों पर के जीवन का ?
क्यों निर्वचन निरुक्त चाहती गोपन और गहन का ?

राधा आई नहीं, नहीं कातर सन्देश पिठाया,
तुच्छ हुआ व्यक्तित्व ब्रह्म का, स्वच्छ हो गई माया !

उसे नहीं कुछ कहना-सुनना, मैं नित खाले कान;
कर्म इन्होंने किए; धर्म हैं राधा की पहचान !

कर्म भोगता है सुख-दुख, दोनों के ऊपर धर्म
उक्ति-युक्तियाँ कर्म साधता, मुक्ति धर्म का मर्म !

नहीं अमर्ष, अभाव; किसी से नहीं विलग, संयुक्त;
छेड़ क्षमा; ललिता, तुम सब आकाङ्क्षाओं से मुक्त।

यहाँ प्राप्त जितना, उससे बढ़कर पाने की आशा—
गढ़ती प्रगतिशील जीवन की नित्य नई परिभाषा!

सुरसरि सी उतरीं धरती पर लाँघ विघ्न-बाधाएँ
गढ़ने को प्रतिमान प्रणय का कुछ सीता-राधाएँ।"

× × ×

"कहिबे में न कछू सक राख्यो, फिरि न रह्यो ऐसोई
हठि कै निपट बीच ही छाँड्यो, बाट गह्यो जोइ-सोई

आइ गए दिन अब तो नेरें, एकै टेक कन्हाई,
खरिकहिं गाइ अजहुँ उर ध्यावै : काहे सुधि बिसराई!

कोटिक करै कदम कुम्हलायो कालिन्दी के कूलन
ओछे गाछ करम के झरिगे, लग्यो बबूलन फूलन।"

एक नयन रानी पर, दूजा हरि के उतरे मुख पर
माँगी शेष विदा ललिता ने, चढ़ी; यान था तत्पर!

दीए का क्या, होड़ बाँध जूझा, जितना तम सूझा
यों लौ का श्रम, क्षुद्र पराक्रम तम का जाना-बूझा!

गए, सब गए नए-पुराने, कौन, किसे, क्यों, रोके?
झिलमिल करती घुलती लौ; मनचले पवन के झोंके!

गगन-सिन्धु में नक्षत्रों की नावें कब से चलतीं
पहुँचीं नहीं कहीं भी; सीमाएँ असीम को छलतीं!

महामहिम मानवता पत्थर को भगवान बनाती
आ जाए भगवान सामने, पत्थर बना मनाती!

पुरुष प्रकृति की सीमा माने, और कहीं रुक जाए,—
ऐसा कभी हुआ? झुकना हो मेरु, विन्ध्य झुक जाए!

इस अविराम प्रकृति की आकुल आकाङ्क्षा का छोर—
कहीं नहीं दिखता, प्रपात-सा बौद्धिकता का रोर—

वधिर किए रहता प्रज्ञा को, काँप-काँप लौ जाती,
गुँथ उलझन बिखरे-से उर में टूटे सुर में गातीं!

नई चेतना, वेदना नई प्रासङ्गिक होने को—
अपने युग का रोना रोती सन्तत श्रम खोने को !

व्यक्ति शक्ति है जन-समष्टि की, अखिल सृष्टि की शक्ति
—है समाज, निर्व्याज सत्य यह, व्यक्ति शक्ति-अभिव्यक्ति !

बिन्दु नहीं, मैं सूक्ष्म सिन्धु हूँ; युग क्या ? काल अखण्ड !
तरल भावना, शुद्ध बुद्धि क्या ? मैं परमाणु प्रचण्ड !

छल के बल न खड़ा था मैं, था पाँव जमाए भू पर,
जब खरोंचता मिट्टी, तब भी ताका करता ऊपर !

दृष्टि बँधी रहती थी दिव में, परम व्योम में आत्मा,
आत्मा ही देखा करती थी अपने में परमात्मा !

मैं बोलूँ दुर्वचन,—नहीं अवसर आने देता था,
कर में लेकर स्वर्ण, नाम सविता का मैं लेता था !

देवों से रक्षित था, आदित्यों की अनुसृति करता,
रह निर्द्वन्द्व, मुक्त मैं द्वन्द्वात्मक की अनुकृति करता !

भोग और ऐश्वर्य मनीषा को धुँधला कर देते,
गढ़ा खोद कर माथे में बालू-मिट्टी भर देते !

सौध खड़ा होता बेसुधपन का, विस्मृत-चेतन का,
दण्ड धँसा जाता दलदल में फहराते केतन का !

क्षात्र धर्म उन्माद नहीं, रक्षण या उत्पीड़न है ?
सामूहिक-विनाश-लीला है ? महाकाल-क्रीड़न है ?

धर्म सन्धि क्या, दुरभिसन्धि में सदा रहा है व्यस्त,
भरे रहे दृग स-घन गगन-से, स्वच्छ हृदय सत्रस्त !

गत परिणामों की विभीषिका से संवेदित विश्व
निश्छल, निष्कलङ्क मन ढोता जीवन निर्भंन, निःस्व !

मेरे बाद याद कर अपने पूर्वजनों के कृत्य
नई पीढ़ियाँ क्या सोचेंगी—जीवन नित्य, अनित्य ?

जीने योग्य बनाने जग को फिर छेड़ेंगी युद्ध ?
स्थिरता और शान्ति ढूँढेंगी ? होंगी हम पर क्रुद्ध ?

युग प्रत्येक ढूँढ़ लाएगा अपने युग की माँग
स्वयं देख लेगा नारी की भरी कि उजड़ी मांग !

चेतावनियाँ व्यर्थ, व्यर्थ हैं रोक-थाम की बातें
कहने दो कुछ नया, नए युग की लम्बी हों आँतें !

क्यों अतीत संगीत सुनेगा ? नए बोल गढ़ लेगा,
रोड़े-काँटे काट-छाँट कर गौरव गिरि चढ़ लेगा !

× × ×

अब अपना अधिकार करेगा स्थापित शोषित वर्ग,
लेगा मार्ग निकाल मुक्ति का, किसे चाहिए स्वर्ग ?

खेत और खलिहान उसी के होंगे, वह अधिकारी,
गाँव-नगर कोई क्यों, होगी उसकी धरती सारी !

नव जीवन उठनेवाला है ढहा स्वार्थ-दीवारें,
एकनीड़ हो विश्व जायगा, कुण्ठित असि मसि-धारें !

मैं अखण्ड मानवता का नयनों में स्वप्न सजाऊँ,
शुभ भविष्य की ललित कल्पना सँजो जगत से जाऊँ !

बनूँ आरती उस पूजा की, मैत्री अनिल-अनल की,
प्रबल बुभुक्षा झपट न लेगी बलि जिसमें निर्बल की !

बहरी लोलुपता रसना की सुन कातर चीत्कार—
थरथरा उठे, तन-मन भीगे, बरसे स्फार-फुहार !

करुण-विपन्न सजल आँखों से चिनगारियाँ निकलती
वीथि शिराओं की न अंधेरी, क्रुद्ध बिजलियाँ जलतीं !

झञ्झाएँ आक्रोश-रोष की हैं झिँझोड़ती छाती
है भविष्य उसका दुर्जय, विश्वास युगों की थाती !

'उसके लिए नहीं है यह सब' ! —अबमानित मानेगा ?
भैंस उसी की, हाथी-काठी पर लाठी तानेगा !

सहा सभ्यता के आरम्भिक युग से; और सहेगा ?
नहीं ठिकाना, किन्तु उठाना, सीख उमंगें लेगा !

बाँहों में आकाश कसेगा, मुट्ठी में बातास,
बहरेपन पर अट्टहास, अन्धेपन पर उच्छ्वास !

बहुत तराशे पत्थर, बहुत नयनजल से नहलाया,
काटे दोनों हाथ साथ ही, जब-जब माथ झुकाया !

चीर अतल को तीर कहाँ पहुँची, मस्तिष्क विचारे,
जिसे धरा की धूल समझते उसे निहारें तारे !

पाँव ठोकरें मार तोड़ देंगे, क्यों बन्द क्षितिज है ?
पाँवों को पहचान : कौन पथ 'पर' है, कौन कि 'निज' है !

जलन शक्ति बन हुई प्रज्वलित उसकी शत-युग-सञ्चित,
इतराए आकाश न, रहनी घास भी न रवि-वञ्चित !

रहे तोड़ते पत्थर, अब पत्थर से धारा फूटी,
बड़े हठीले हैं, ठोकर खाई, न एकता टूटी,

जुट कर नियति-शृंखला तोड़ेंगे, पहाड़ फोड़ेंगे
रहे गोड़ते क्षेत्र बहुत, पिछड़ी धारा मोड़ेंगे !

क्रन्दन मेघ करेंगे, शशि हँस सुधा-धार बरसेगा !
रवि की छवि निखरेगी जब तम-तोम होम हरसेगा !

× × ×

त्वरा आज वापस जाने की, विश्व सुषुप्ति समूचा,
विसुध हुई आत्मा, अभाव-लघु शून्य उठ रहा ऊँचा !

कल्पित समाधान से तोषित, पोषित शत स्वप्नों से,
पार्थिव-सी चैतन्य-चन्द्रिका घिरी अचेत घनों से।

उन्नततम तम से आच्छादित ठोस ओस-सा चमका,
शत संवेग-निरत मानव मन, तन में सिकुड़ा, तमका !

त्वरा लौटने की आन्दोलित करती रुचि परिमार्जित
विदा व्यवस्थित चित से माँगूँ, हो सम्पूर्ण समर्पित !

मटमैली-सी चिन्ता मेरी, चिन्तन धुँधलाया-सा
बूँदों से छन कर भीतर विद्युत्प्रकाश आया-सा !

सन्नाटे का सागर लहरें लेता-सा साँसों से,
फूट रहा कोई स्वर गुमसुम बँसवट के बाँसों से !

आधि-व्याधि की चली नहीं, मृगया पर निकला व्याध
सहम-सिमट कर छिपा खड़ा है धनुष-वाण को साध !

लक्ष्य मुझे बनना अलक्ष्य का, शर का शान्त शरव्य,
देव-पितर टकटकी लगाए : बनूँ हव्य या कव्य !

जन्म ज्ञान के शिशु ने पाया, मृत्यु सत्य श्रुति की हो,
मुझे विदा आनन्दमयी, जय पटाक्षेप-द्रुति की हो !

स्वर तीनों ओङ्कार से बँधे, साँसें तीनों लय से,
ऊँचे शिखर मुक्ति मत टेरें, बँधती सृष्टि प्रलय से !

आदि स्रोत यह गुह्य ज्ञान का : मरण जन्म प्रारूप
आदि ज्योति फूटी थी तम से, तिमिर ज्योति का स्तूप !

होगा मुक्त एक दिन तम की कारा से संसार,
शान्ति-सिन्धु में आएगा आनन्द-ज्योति का ज्वार !

× × ×

देखी होगी राह न सब दिन, क्षितिज दिख गया होगा,
अशनि-हृदय शनि-उर पर मङ्गल विशिख लिख गया होगा !

जड़ता में अड़ता न, चेतना पंख मुझे दे देती,
मरु में धार उमड़ पाती, दाहिनी बाँह खे लेती !

जो तुमसे टूटा, वह क्या था, फिर वह किससे जुड़ता !
डैने तोड़ लिए भू पर गिर, विहग व्योम में उड़ता !

जो न काम आ सका तुम्हारे, मत लो उसका नाम !
सींग तुड़ा बछड़ा बनता था वह निर्गुण, निष्काम !

जो खो सका न उस सागर में, फेंका गया किनारे,
नींद न आई उसे किसी दिन, गिने रात भर तारे !

ऐसी कैसी तन्मयता जिसमें सुधि न थी तुम्हारी,
अनियन्त्रित मति व्यर्थ सींचती थी स्तुति की फुलवारी !

समानार्थ सन्ताप हुआ है विजय ध्वजोत्तोलन का
सहमा-ठिठका-सा आँसूकण नैतिक आन्दोलन का !

वसुधा का सर्वोच्च शिखर भी नीचे रह आया है
पाँवों ने आकाश छुआ है, मिट्टी की माया है !

कहा गया उद्‌गार, काल-यात्रा का जो अनुभव था,
मोड़ मार्ग का हुआ, होड़ बद पाया जो अभिनव था।

रहा यथास्थिति-पक्ष में न मैं अपना हाथ उठाता
न ही ढूँढ़ने व्यर्थ समर्थक मैं था माथ उठाता !

मैं न सका हड़बड़ा विविध सुविधाएँ पाने बेच,
अपने-अपने द्वन्द्व रखे आत्मा में सहज सहेज !

जंगल काट न रोपे पौदे, सन्नाटे न झिंझोड़े,
चढ़ा पहाड़ों पर न साथियों को बोला : सिर फोड़े !

खटका एक लगा रहता था बिछले, छले न चिकना,
रुखड़ा ही मन बना रहे,–जब इसे नहीं रे बिकना !

अपनी परछाईं कि कुहासा घिरा, छिपा आलोक,
फाँस गड़े न साँस की अपनी, चुभे न ही निर्मोक !

पीर कसकती है जो मन में कली-कली में खिलती
आग सुलगती अरुण अधर में, मुसकानों से झिलती !

तट से टकराती कि डुबोती है तटस्थ को लहरी;
फेन उगलती है ऊपर, भीतर से जितनी गहरी !

बादल से ढक गया गगन है, फैली उचट उदासी;
गरज-गरज सागर कहता है : सारी नदियाँ प्यासी !

शीर्ण शृंखला से श्वासों की जीवन बँधा हुआ है,
क्षणभङ्गुरता नियति हो न हो, क्रम तो सधा हुआ है !

सूर्य उगे, आलोक उलझ कर शिखर से, न रह जाए;
भू पर सूर्यसुता उमहे, नभ की गङ्गा बह जाए !

आज लौटती बेला में जग के इस खेला-घर से
कोई तार छू गया जैसे, स्वर उठता अन्तर से ?

आहट-सी है हुई उधर के घुटते सन्नाटे में,
हुई अनहुई बात न कोई : फूल खिला काँटे में !

प्रगति साँस की तीव्र, तीव्रतर, जीवन-क्षण सीमित है,
कब बुझ जाए जली फुलझड़ी, आलम्बन सीमित है !

भटक रही-सी गन्ध शून्य में, जीवन क्या जीवन है !
लिपटी लिपटी छाँह चल रही : जीवन धूप, दहन है !

अलसाई, ऊँघती पुतलियों में यह स्वप्न जड़ा-सा
क्वाँरी जोत जगी-सी तम में, जीवन बिन्दु बड़ा-सा !

रहती लगी तार-सी सुधि कुछ खोज स्वयं में खोई
मोती झरते खुली सीप से, जीवन आँसू कोई !

जीवन यदि प्रगल्भ वाणी है, मृत्यु शान्ति-संगीत,
मिले मुक्ति दोनों से जब, तब हो पुरुषार्थ प्रतीत !

जीवन-मरण असंख्य विसंगत-सत्य-यन्त्रणा मार्मिक
छिलके-सी मुसकान उतरती, झरते आँसू धार्मिक !

विश्व-विधान नहीं सह सकता जन्म-मरण मनमानी,
यदि होते स्वेच्छा से होते या कि न होते प्राणी !

है अस्तित्व हमारा बाहर गिरि-शिखरों तक फैला
जिससे अनस्तित्व का गहरा सागर दिखता मैला !

जीवन श्रवण-सुखद कोलाहल है, तो मृत्यु छलावा,
विधि-विरुद्ध अर्जित जिजीविषा में लग जाती दावा !

रुक्ष, उदास उतार वयस का चिन्ता का ही चिन्तन—
कहने लगता, भूत भाव्य में भूलअचिन्त्य चिरन्तन !

करता है उद्धार स्वय का जो बिसार संसार
उसे क्षमा कर साथ बढ़ो, दो लुब्ध विश्व में प्यार !

साथ बैठ कर सत्य विचारो, श्रद्धा सच का द्वार,
दृढ़ शरीर ही पत्थर-सा हो, मन कोमल अविकार !

करुण प्रसङ्ग यहाँ दो,—सब को कुछ पाने की आशा,
कुछ मिलने पर अपर्याप्त कुछ को बनना परिभाषा !

जान बूझ कर करे, झूठ का कर सकता व्यापार,
सदियों ने दी खुली चुनौती सत्य रहा स्वीकार !

क्षणिक विजय उल्लास, पराजय की पीड़ा शाश्वत है,
हार मान लेता है जीवन, मरण सतत आहत है !

देखा, एक वृक्ष के नीचे शान्त लगाए ध्यान—
हैं भाई बलराम आँख मूँदे: उड़ जाएँ प्राण !

निर्भय, अतिनिश्चिन्त महाप्रस्थान समय स्थिर मूर्ति
पूर्णकाम निष्काम यज्ञ जीवन, पूर्णाहुति, पूर्ति !
मैं जीवन में नव रस भरने के कुचक्र में सूखा,
सुजल सुफल जग को करने के क्रम में प्यासा, भूखा !
मन्त्र उचारूँगा निर्जन में, शान्ति-तन्त्र ढूँढूँगा,
एक जन्म पर्याप्त नहीं ? कर फिर प्रयास आऊँगा !

बहती हैं रेखामय स्मृतियाँ, मेरे नयन भरे हैं,
पत्थर-सा जम रहा अँधेरा, राधा-स्वप्न हरे हैं !
क्यों आत्मिक सन्दर्भ बाह्य से हो न एकरस पाया ?
बेंच बाँसुरी मैंने था क्या पाञ्चजन्य को पाया ?

स्पर्श गुनगुने शीतल विरस त्वचा को पुलकाते हैं,
क्या पाया, सिहरन-क्षण कर आभार प्रकट जाते हैं !
हुए व्यर्थ सब अर्थ, शब्द दुहराने में जग सिद्ध
निर्धारित विधि से मौलिक को करते सभी प्रसिद्ध !

कहाँ मुसकुराहट कड़वाहट पी जी भर छलकी थी
कहाँ दृगों की तीक्ष्ण चमक में परछाईं जल की थी
कोई भी तत्त्वज्ञ न तह तक पहुँचा, बोली बोले;
मानवीय संवेदन ओझल रहा; कभी दृग खोले ?

जन-मानस की अन्तरङ्गता, त्याग शीर्ण संस्कार,
अनायास हो सकती स्थापित, क्या होता संसार !
बाहें कसती गईं, सीप ने सागर लिया उलीच,
प्रेम पुराना पड़ा, काम को रही कामना सींच

मोड़ गिने प्रत्येक पंथ के; क्षितिज हो गया दूर
सोते-जगते स्वप्न सिराए फैल-सिकुड़ भरपूर
लोहे की पिघलन पलकों पर स्वर्णकिरण अनदेखी
एक अकेली राधा ने ही धुँधली रेखा लेखी !

कल्लोलित है सिन्धु आज अन्तरतम से आन्दोलित
आज अधिक उन्मन वन का स्वन, सुमन पवन-प्रेंखोलित
एक-एक पल विकल पलट कर कुछ लेता-सा आहट,
सूना घाट, विहग-कुल उतरा, बैठ रहा जल से सट !

ओस भरेगी या कि रेत, क्यों मुँह खोले हैं सीप ?
कन्धों पर लादे होगा मुरली-स्वर अब भी नीप ?

खिलने की थी एक विवशता, गन्ध उड़ी चहुँओर,
पंख झरे कि पँखुरियाँ बिखरीं, राधे, हो न विभोर !

समय-प्रवाह प्रखर हमने तम में, प्रकाश में झेला,
यों दोनों के अलग किनारे, खेल नियति का खेला !

थे शरीर के तन्तु जुड़े आत्मा से, जिए अकेले,
दिया प्रकाश उछाल साँस ने, मरे न चुप, कुछ दे-ले !

एक ओर जड़ता है, दूजी ओर ज्ञान की पीड़ा
एक धरातल ढूँढ़ थका, दूजे ने बढ़ कर बीड़ा—

उठा लिया है शून्य भेदने का; सन्ध्या की डाली—
दिन के खिले हुए फूलों से भर दो; फैली लाली !

—:o:—

परिवार्यान्तराया मां समुत्साहं समेधयन्
हंसोऽप्युड्डीयते व्योम्नि नापमृष्टवलाहकः ।
पूर्वाग्रहाभिशप्तस्य तप्तस्यातर्क्य–तर्कणात्
किञ्चिज्ज्ञस्याप्यधृष्यस्य घर्षणा-मर्षणे गुणः ।

भावानुसारिणो भाषा भावा भाषानुसारिणः
वैलक्षण्यं प्रबन्धस्य लक्षणीयं विचक्षणैः ।

नादित्यो निष्प्रभो नैव निर्जलोऽभूज्जलाशयः
सर्गेऽवसन्ने सम्पन्ने नानलो धूमसंवृतः ।
प्रभासाख्यस्य सर्गस्य व्यतीत–कवि–कर्मणः
निश्रेयसकरो दृष्टोऽदृष्टेनान्तोऽल्पविस्तरः ।
कालज्वरो मदुत्साहं निग्रहीतुं कृतक्षणः
धृष्टमाज्ञापयद्धृष्टः समयं नातिवर्तितुम् ।
सर्गः संक्षेपितः सह्यो वाग्विसर्गेण बृंहितः
जानकीवल्लभो हन्त गतो वाच्यं विवक्षतः ।

वाध्यमानाः प्रयत्नेनान्तराया राधिकादृशा
यथा येन समाजग्मुः पथा तेनैव दुद्रुवुः ।

राधा

७

उत्सर्ग पर्व

उत्क्षिप्ततर्जनीकानां
किञ्चिज्ज्ञानस्फुरद्भ्रुवाम्
कृष्णे तमसि मूकानां
राधा भा-रत-भारती ।

× × ×

आच्छाद्य च्छायया स्वैरं
शिखराणि महीभृताम्
औपत्यकापगाऽऽवर्तं
प्रेक्ष्य राधा न विस्मिता ।

× × ×

व्यग्रा समग्रताभोगे
विरागे न्यस्य किं स्पृहाम ?
खाते, गर्ते तथा शृङ्गे
दृष्टा राधा सदागतिः ।

※

बस यही एक सच:—चले गए ?
तुम आए थे; तुम आए थे;
मेरे निष्प्रभ जीवन - नभ में
तुम सावन - घन बन छाए थे !

पुलकित कदम्ब की डाली थी,
छवि छाई नई, निराली थी;
तुम कुसुम-सदृश थे झूम रहे,
मैं मन्द गन्ध - मतवाली थी !

तुम अस्त-व्यस्त जब-जब होते,
मैं तुम्हें सजाती जाती थी;
स्वर भरे तुम्हारा मधुर मौन,
मैं मन में क्या-क्या गाती थी !

तरु तरु की तुनुक फुनगियों पर
तितली-सी रुक-झुक उड़ जाती,
वह दृष्टि तुम्हारी सुर-धनु की
शर-वृष्टि दिखा मुड़-मुड़ जाती !

तुम गुन-गुन करते फिरते थे,
मैं खड़ी-खड़ी धुन सुनती थी;
तुम डाल-पात चञ्चल करते,
मैं मुकुल-फूल-फल चुनती थी !

मुसकान तुम्हारी किसलय में
मल्लिका खिलो-सी थी लगती;
मधुकरी मौन, पिक की "कूऊ -
कूऊ" को किस स्वर से ठगती !

मरु - तरु - नव - पल्लव धन्य,
तुम्हारे कोमल कर से मले गए !
क्या इतना ही कम, ब्रज-रज में —
पद-पद्म उगाते चले गए !

तब अपने सपने भी न रहे,
जब सत्य न तुम साकार रुके,
बेसुध झञ्झा के झोंकों से
पाषाण-प्राण किस भाँति झुके !

तुम उमग-उमड़ कर चले गए
पावस-वन्या की धारा बन;
सूखी बालू भर जड़ीभूत
मैं निश्चल कूल-किनारा बन !

तुम प्रात-स्वप्न-से दिपे, छिपे
उचटी निद्रा को रञ्जित कर;
धूमिल सूनापन दिया दिखा
अलसाई आँखें अञ्जित कर !

तुम सौरभ-से हो गए दूर
मेरी जीवन - वनमाला से,
नागिन हो गई अँधेरे की
मैं गले लगी वनमाला से !

वाञ्छित विभीषिका परिजन की,
रस-भरी पहेली पुरजन की;
हूँ स्व-जन-नयन की जल-कणिका,
जलती ज्वाला शीतल मन की !

'तुम चले गए' — अब एक यही —
स्वर गूँज रहा उखड़ी लय में,
उपहार प्यार का यह कैसा ?
क्या हार तुम्हारी इस जय में ?

घर-घर होली की धूम मची,
घर एक किसी का जला, जला;
तुम मिले विश्व से गले-गले,
यदि एक किसी को छला, छला !

दुख मुझे यही होता रह-रह,
हूँगी जब आती याद कभी, -
धुँधले - धुँधले दिखते होंगे
विस्मृत व्यतीत के चित्र सभी !

माँ से करते होंगे न व्याज,
आँखें आती होंगी भर - भर;
बचपन की सोची छलनाएँ
ठग देती होंगी अवसर पर !

चिन्ता करने लगते होंगे :
जाने कैसे रहती होगी !
पतवार-हीन वह तरणि दीन
उथले - गहरे बहती होगी ?

मेरी भी तो है यही दशा,
घुट-घुट कर हूँ जीती जाती;
फटने - फटने करता अन्तर,
फिर भी हूँ मुँह सीती जाती !

बस यही सोचती रहती हूँ,
ऐसी क्या मुझसे चूक हुई,
जो त्रिभुवन का मन मोह आह !
मोहन की मुरली मूक हुई !

क्या ऐसा अवसर आएगा,—
अपनी आँखों से मेरा दुख –
तुम देखोगे, मैं देखूँगी उच्छ्वास-
उदास तुम्हारा मुख !

माँ छिपा न पातीं नयन-नीर,
मैं प्रकट न करती पीर कभी,
होता न तुम्हारा घर उजाड़,
मैं तो देती उर चीर कभी !

वय बढ़ने का है कुफल यही,
यौवन जाने किस हेतु बना !
ज्योत्स्ना-सी निश्छल, निर्मल पर
कैसा घन नील वितान तना !

रह सकते कुछ दिन हम दोनों
यदि और अधिक शैशव-तन में,
बिछड़ा देने की व्याकुलता
होती जग के न मलिन मन में !

शैशव-शशि की शीतल छाया,
जन-जन के नयनों की माया !
पर तरणि तरुणिमा का तीखा,
दीखा ज्यों, जन-मन भरमाया !

यह तो स्वभाव ही अग-जग का,
सब को समझे अपने-जैसा;
श्यामल अञ्चल से सत्य छिपा
कर सके सिद्ध सपने-जैसा !

जिस दिन तुम जाते थे मधुवन,
अब के समान था ज्ञान नहीं;
मेरे सुख-दुख के तत्त्व तुम्हीं,
थी इतनी भी पहचान नहीं !

सच यह कि इकाई ने मेरा
अस्तित्व दिया न पृथक् रहने,
भर रखा मर्म का रन्ध्र-रन्ध्र,
निष्ठुर, न दिया कुछ भी कहने !

मैं पगली भूल भुलैयाँ वह
किस भाँति समझ सकती ? बोलो;
छू क्षितिज-छोर अपने कर से
क्यों पलट पंथ तकती, बोलो !

जीवन है वृक्ष घने वन का
कटता - छँटता बढ़ता रहता
शाखाएँ हिलती रहती हैं,
नव नीड़ विहग गढ़ता रहता !

कोई तुम-सा कटकर रहता,
कोई तुड़-मुड़ कर जुड़ जाता,
उतरा धरती पर, चारा चुग,
पंछी फिर नभ में उड़ जाता !

कोई चाहे तो आ सकता,
कोई चाहे उड़ जा सकता,
जीवन आँका - बाँका पथ है,
अथ से चल अथ को पा सकता,

ऋतु-ऋतु के चिह्न अलग अपने,
ऋतु-चक्र चल रहा मिला-जुला
टुकड़ों में देखा इन्द्रधनुष,
कुछ रंग-रंग का भेद खुला ?

चिर-विरह ! न पूर्वाभ्यास किया–
– सहने का ? यूँ ही रूठी थी ?
स्थिर प्रणय उठाता नित तरङ्ग,
मन की समरसता झूठी थी !

मैंने न उलीचा उर - सागर,
—सुर कहाँ डुबोया था तुमने ?
थी ढकी राख से आग, राग—
तल-तम में बोया था तुमने ?

दुखते रहते इस जीवन का
कोई सुख अगम रहा होगा,
सागर गागर-सा जाय छलक,
यमुना-जल नहीं बहा होगा !

है लाभ डूब जाने का भी
आँधी - तूफान बिसर जाते !
औंधी नैया सिर पर होती,
दर्शक तटस्थ फिर घर जाते !

था धूल-धूल परिवेश जहाँ,
फूलों की लपटें लहकी - सी;
कोने में दुबका वनपलाश,
थी हवा विजन में बहकी-सी !

मुखड़े पर और लिखा था कुछ,
मुरली सुर में कुछ बकती थी,
मैं चकित अचल उर तकती थी,
निःशब्द कभी सुर ढकती थी !

सन्देह नहीं, जल हाथ गया,
आँधी की एक न चलने दी,
लौ काँपी, हाँफी दग्ध शिखा,
बुझने की सूझ बिछलने दी !

कानों में शब्द उड़ेले जो
बहरे जग ने न सुने होंगे ?
आँधी ने फूल उड़ाए जो,
कम्पित कर ने न चुने होंगे ?

सम्भव एकाकीपन मन का
जीवन कहलाता जो जग में;
मिलते न हाथ, मग अटे नहीं—
उठते-बढ़ते डगमग पग में !

पथ देख दिया मथ समय-स्रोत,
रथ गया, गया; पलटा अब तक
जम गया, थम गया जड़ जीवन
पिछला पत्थर पिघला जबतक !

कोई-सी कोरी बात नहीं,
जिस पर न तुम्हारा रंग चढ़ा,
घिसटा लुढ़का नत-उन्नत में
मन मत्त मतङ्ग, अपग, बढ़ा !

आँखें तो तब भी हँसती थीं,
जब थी मन को बरसात मिली !
मन है जीवन भर का साथी,
सौगात उनींदी रात मिली !

दुहराने - तिहराने स्मृति में
लगती जब अनमिल भूलों को,
हौले हलराकर मन्द पवन
बह जाती फूले शूलों को !

रह गया अधिक अनदेखा ही,
मधु क्षण अनचीन्हे बीत गए;
संघर्ष अचल विश्वासों से,
श्वासों से चिपके गीत गए !

सौ प्रश्न उजागर होते हैं,
उत्तर न एक आता मुख में
बंजर गोड़ा, परती सींची,
भर किलकारी सूखे सुख में !

डैने न थकाए थे मैंने
उड़ - उड़ सूने को छूने में
बीते दिन की न निचोड़ी थीं--
पीड़ाएँ दूने सूने में !

मैं अपना सत्य पराए - से —
छाए मेघों से क्या माँगूँ ?
बढ़ते - चढ़ते जो ठहर गई
उस वय से, कहो, कहाँ भागूँ ?

कौतुक क्या कोलाहल होता,
चुभता है मौन अकेले का ?
मिल बैठें हल्के, नित्य तृप्त,
कोई सङ्कल्प न दे ले का !

फट गया अँधेरे का ज्यों पट,
लहरी कि लहरिया ऊषा की,
शाद्वल पर बिखर गई मणियां
निधि थीं जो नभ-मञ्जूषा की !

तुम दिवास्वप्न से चले गए,
निस्पन्द निकलकर पलकों से;
मैं रही देखती खड़ी - खड़ी
झलकी भविष्य की अलकों से !

समतल में सुधि लँगराती थी,
दल-दल में फँस हँस देती थी;
होते जब पछी चहक रहे,
सी अधर-ओष्ठ कस देती थी !

वह कसक-भरी स्मिति अब भी जब
स्मृति में किलकारी भरती है
मछली-सी तड़प जली बिजली
बुझ नयन-नीर में मरती है !

पर के निदेश का अनुशीलन
करना सीखा कब जीवन से ?
अपने विवेक की एक टेक,
आचरण उचित का तन-मन से !

तृष्णा को सिर चढ़ने न दिया
होती विभीषिका मृत्यु नहीं;
जग को जाना बन्धन न कभी—
आशा का, मुक्ति निराश नहीं !

अवसर ने बहलाया न मुझे,
सुख से दुख को न अलग जाना;
स्तुति ने न मर्म बेधा, न कभी—
निन्दा ने तम-वितान ताना !

ऊँचे चढ़ने की हौंस नहीं,
गिरने का भय न हृदय छूता;
धरती हूँ या आकाश ?—नहीं—
अस्तित्व - मूल्य अपना कूता !

परछाईं ही परखी अपनी,
निरखी न कभी माटी काया;
मन रमा खेल में था निशिदिन,
तुमने जो गाया, दुहराया !

समवेत गान ! प्राणों का क्या,
गाकर सुनकर बावरे हुए,
मुरली के छिद्र न अन्वेषण—
करते, क्या भीतर भरे हुए !

गोवर्धन की चोटी पर चढ़
थी देख रही अपना गोकुल;
थी बन्द पवन, निस्पन्द विजन,
द्रुम-सुमन कि विद्रुम मौलि-मुकुल !

बौना हो गया सभी कुछ था,
विकसित का बचपन दिखता था;
ऐसी भी कैसी ऊँचाई
जिससे छुटपन ही दिखता था!

बचपन में ऊँचे चढ़े नहीं?
सारा जग छोटा लगता है!
ठंडे लोहे की बुद्धि हुई,
कंचन-तन खोटा लगता है!

ओ वकुल-मुकुल, तुमने ऐसी—
क्यों त्वरा दिखाई खिलने की?
असमय अमन्द मकरन्द - गन्ध
फैला मधुवन से मिलने की?

सच है, रुकने का ठौर न यह,
दिन भर में उदय-अस्त होना,
सुस्ताने की ऋतु एक नहीं,
सार्थक श्रम से साँसें धोना!

हों कोष ओसकण के न नयन
मुसका - मुसका मोती पोएँ,
दर्शक संवेदनशील मिथक
चाहे तो फफक-फफक रोएँ!

फल के उद्‌गम की क्या चिन्ता?
क्यों फूल-फूल उठने का क्रम?
जैसे अँखुआना कलियाना,
झर जाना वैसा ही सम्भ्रम!

जीवन को बोझ नहीं माना,
तुम तक कि इसीने पहुँचाया;
जीवन है ज्ञान, ध्यान अपना,
संकल्प - कल्पतरु की छाया!

षड् ऋतुएँ घूम गईं द्रुत गति—
मेरे निर्जन जीवन-वन में;
जैसा प्रभात, वैसी सन्ध्या,
वन में ज्वाला, विद्युत घन में !

घर का सभार कठिन ढोना,
मैंने संसार बिसार दिया;
वन में न भवन तुम बना सके,
मैंने यह जीवन हार दिया।

चौरस्ते की यह मुक्त कथा
वन - बाग आग - सी फैल गई;
अनुराग बढ़ा पाई न अधिक,
यों जलने की खुल गैल गई !

मैं बहिष्कार करने विधि का
लाई न लहर बहकी - बहकी;
तुम इन्दु सिन्धु में डूब - से,
मैं किरण नहीं लहकी-लहकी !

अट टा अतल का अवगाहन,
जल का तल ठहरा - ठहरा - सा
बाहर कोलाहल पुलिन - पुलिन,
भीतर सब बहरा - बहरा - सा !

थी चहक तुम्हारी ही थाती,
मेघों की छाती चीर उड़ी;
निःशब्द तुम्हारा आमन्त्रण,
अम्बर से धरती नहीं जुड़ी।

अञ्जलि मेरी न भरी, नभ से—
बरसा वर-सा अभिशाप अमित,
'आनन्द छन्द है, प्राण गान !'
क्या कहने अधर हुआ सस्मित !

पथरीले पार किए शत पथ,
समझा, अथ पहुँच गया इति पर,
आकाश करे उपहास, पाँव—
पड़ते थे नहीं कहीं क्षिति पर !

बलवे कछार - जैसी छाती,
ढूहों - टीलों - से हाथ - पाँव
यमुना को मत सीधी समझो,
है फिरी घूमती गाँव-गाँव !

मेरे ही पाँव पिराते हैं,
आँसू उड़ेल दृग भरते हैं;
'यह उज्ज्वलता तुमसे न ढकी !'
—संकल्प कुआँरे मरते हैं !

सूनी-सी साँझ खनकती है,
साँवली गसी - सी तरु - छाया;
झिल्ली की झांझ झनकती है :
'इस ओर कहाँ कोई आया !'

सीढ़ियाँ ज्वार की पथराईं :
'सागर न कभी चढ़ खड़ा हुआ ?
तुम किसे ढूँढ़ने जाते थे ?—
'निस्तल में कोई गड़ा हुआ ?'

कीचड़ - सी काई पहचानी ?
धानी परछाईं पहचानी ?
सूरज देता है आग बहुत,
तन-मन की झाँईं पहचानी ?

कितने क्षण गूँथ रखे मैंने
उच्छ्वास सघन वनमाला में !
विष की कितनी बूँदें घोलीं
मीठे सपनों की हाला में !

था जिन्हें समेटा सूने में,
अन्तर में भर अलसाई थी;
था सच वह प्राणों की मचलन ?
मन की फिसलन ? अँगर ई थी ?

शीतल करतल से जलते - से
ओठों को ढक कर बोली थी
निष्फल पल-छिन के ऋण पर ऋण,
मेरी साँसों की झ.ली थी !

दुख के बाने में सुख आया,
सुख का क्या अपना रूप नहीं ?
मैंने पहचाना कहाँ कभी,
सागर - सा कोई कूप कहीं ?

दुख जुड़ना चाहा था सुख से,
देखा सुख ने, मुख फेर लिया;
बाँधे विराट को बाँहों में ?
सुख को छाँहों ने घेर लिया !

होती न आयु अपनी इतनी,
दुख का पथ नहीं माप पाती;
मिल झलक एक सुख की ! न ललक—
जीवन को फूँक - ताप पाती !

तन को है छुवन बहुत; मन को-
झकझोर मोड़ना पड़ता है;
विश्वास श्वास मे जो न जुड़,
यह तार तोड़ना पड़ता है !

आँखें क्या रूप निहारेंगी,
कोई न एक - जैसा दूजा,
मन भूल नाम पाता क्षण भर,
पुजती जीवन भर की पूजा !

होगा क्या, सोचा करती थी,
जब अन्तिम क्षण आ जाएगा,
निस्पन्द मन्द धड़कन होगी,
दृग में मरीचि - मृग छाएगा !

संवेदन - शून्य अचेतन - सी
इन्द्रियाँ शिथिल, अनिमिष होंगी
दाँतों में उलझा, रसना से—
कुचला होगा स्वर : ओ योगी !

अन्तिम आँसू रह जाय टँगा,
जब शेष श्वास मैं छोड़ूँगी
बीते गीतों की एक कड़ी
अगले अगीत से जोड़ूँगी !

बचपन की सुनी कथाओं से
है सत्य, यथार्थ नहीं दूजा;
बलि होने की ही बात एक—
कहलाती जीवन की पूजा !

कोयल को चिढ़ा हँसा शैशव,
नव यौवन कुररी का क्रन्दन;
होंगे सब वनपाखी साखी,
अब गहरा क्या, बहरा है मन !

मुँह तकने लगती हैं बेलें,
यदि थकी साँस मचले : नाचो !
चींटी भी बामी में छिपती,
यदि अड़ें : नियति की गति जाँचो !

हटकर जन-पथ से, खेत जुते,
उन पर झुक आए इन्द्रधनुष—
—कुहरा-बादल या धूल-धूप;
कंकड़-पत्थर पर काँट कुश—

उग आए अपनी पद-यात्रा--
अविरत होनी थी; स्थिति जो हो !
दीवारें क्या कारा गढ़तीं ?
जीवन धारा है; गति जो हो !

माधुर्य, दया, अनुभाव-तेज-
ऐश्वर्य सहजता क्या जानें ?
हो चढ़ी बाढ़, हों बढ़े भँवर,
उच्छृङ्खल अपनापन माने ?

जीवन मेरा, व्याख्या उनकी,-
जग वा जी जला उजलते जो;
निर्दोष, शान्त, मन - आत्मा को
ठोकर पर रखकर चलते जो !

पद-चिह्न रेत पर, रेत किन्तु-
थी नदी - किनारे तक उभरी;
आती - जाती आँधियाँ रहीं,
पानी पर रेत नहीं उतरी !

कुण्डली मार कर अँधियारा
फुफकार रहा - सा पद - तल में
उगता था एक क्षितिज प्रतिदिन-
अधबना धुँधलके के जल में !

पौ फटी घने सूनेपन में-
मन के, जैसे फटती बदली;
तन डूब गया निर्जल मन में;
फलती क्या कटने पर कदली !

तुम तो वैभव में ही तैरे,
अनुभव दृग-जल में ढलता है;
सम्पुट खोले सीपें सारी,
मोती क्या सब में पलता है ?

धीरज धर रही खड़ी मग में,
पग में क्या चुभा, नहीं देखा;
आँखों से ओझल दर्शनीय,
दिखती किसकी छाया - रेखा ?

सीधा हो स्वच्छ अनाविल भी,
ऐसा चरित्र कैसा होगा ?
जिसकी दिन रात समीक्षा हो
वह भित्ति - चित्र कैसा होगा ?

उन्नति का लोभ नहीं, अवनति
भय जिसे सिखा सकती न कभी
जो रोता ही न, जिसे सुख में–
दुख नियति दिखा सकती न कभी

ऐसे को कैसे सूर्योदय
उन्मेष नया दे : क्लेश गया !
सूर्यास्त सँवारे : ओ न्यारे,
सम्पूण लब्धि का शेष गया !

तृष्णा की कृष्ण कसौटी पर
उतरा न खरा जिसका सोना
हो व्याधि समाधि जिसे, बोले;
सब पर चलता जादू - टोना ?

जो निष्फल ही फूला-मुरझा,
वह वृक्ष नहीं शोभा वन की;
संकल्प-विकल्पों से घिर कर–
घुटता जो, क्या गति उस मन की !

सूखे-गीले में स्मृति की लौ–
लहकी, काँपी न उसाँसों से,
प्यासी हो पीर, उपासी भी,
बहकी न मूढ़ विश्वासों से !

गहरे पानी की मछली को–
होगी स्वतन्त्रता उड़ने की ?
अनुभव के सौ आयाम, घड़ी–
कुछ मिलने और बिछुड़ने की !

लम्बी यात्रा का अन्त निकट
पतझर - वसन्त पीछे छूटे;
थे गिने - चुने क्षण जीवन के,
उलझे - पुलझे गुँथ कर टूटे !

मिश्रण-सा उष्ण-शिशिर ऋतु का–
आनन्द, भयङ्कर लगता है;
जब हँसता - सा आँसू सोई–
रोनी आँखों में जगता है !

दुख में डूबा आकण्ठ रहा
ऊबा न कभी जग जीवन से
भारी बोझा, डिगती न नाव, —
पर, पार उतरने के प्रण से !

चाँदनी उतरती है नभ से
दुपहर में रूप - धूप चढ़ती;
ऊपर - नीचे क्या थाह थके ?
बढ़ने की तृष्णा ही बढ़ती !

सुनहरी पत्तियों का झूमर
हल्की - सी छुअन पवन क्षण की;
कलियों के खिलने की आहट,
कैसी पुलकन, सिहरन मन की !

सक्रिय शक्तियाँ अनेकों हैं,
संसार नहीं तो क्या चलता ?
अनुभव अवरोधक एक नहीं,
ठग गढ़ जग अपने को छलता !

यन्त्रणा, आत्मपीड़न मन के
उत्कर्षण, अपकर्षण की छवि,
भर विविध रंग सुरधनु रचता;
सरि, सागर को करता क्या पवि ?

पर्वत के शृङ्ग टूट सकते
तरु से कि छूट सकती छाया
मन यदि अगाध सरि-सागर है,
क्या वज्र-गर्ज ? शाब्दिक माया !

तलहटी निम्नतर अन्तर की,
छाई न कँटीले फूलों से;
उड़ती सुगन्ध रुचि-शुचिता की :
क्यों हमें वैर हो शूलों से ?

हरियाली भी काली लगती,
जब रात अँधेरे को सेती;
गङ्गा यमुना - सी, पुरवैया—
जब है भारी नैया खेती !

तन को तिनके-सा उड़ा दिया,
रोका न हवा के झोंको से;
मन पर नौ मन की रखी शिला,
गिनती न कराई नोकों से !

अपना अनुभव गहराई का,
संगीत सुना तो पीड़ा का;
कोई राधा को क्या जाने
यह नाम हँसी की क्रीड़ा का !

दर्पण में चाँद सिमट आता,
सूरज डबरे में उगता है
नंगे पहाड़ पर पत्थर का—
पारावत दाने चुगता है !

जन आप भटकता, भटकाता—
आत्मा को निठुर परीक्षा से;
अपने उर की दुर्बलता ढक—
लेता है क्रूर समीक्षा से !

जाता जब साँप कुचल चलते
अस्मिता, अहं का अपना है—
फुफकार डंसे मत, घबराकर
जगता, ज्यों देखा सपना है !

जय और पराजय की चिन्ता
डटकर न खड़ा होने देती;
सम्मान - प्रतिष्ठा की लघुता
मन को होने न बड़ा देती !

जूझे न स्वयं से पर झपटे
विचलित हो सोच - विचारों से
चेतना न डूबी उतराई,
मापे क्यों सिन्धु कगारों से ?

आते कि अँधेरी रातों में
बहला कर बातों-बातों में
दिखला नक्षत्रों, तारों को
उलझाते मन को नातों में !

कहला लेते मुझसे जी की,
मुँह में वे शब्द नहीं आते,
कसमस उर - अन्तर सुर-ध्वनियां
गुँजती : शब्दों से सुख पाते ?

तो सुनो : चराचर विश्व - बीच
मेरा केवल तुमसे नाता;
यह रूप तुम्हारा घन-मन में—
खो जाता; नहीं निकल पाता !

तुम कहते थे : मर जाऊँगा
यदि प्रणय तुम्हारा भूलूँगा !
चन्दा की तरह बदल पल-छिन—
जो जिया, अधर में झूलूँगा !

× × ×

विश्वास जमाया पत्थर - सा
निश्चय भर कच्चे श्वासों में;
सङ्कल्प डुबोए दृग - जल में
हूँ स्वाती - व्रती 'पियासों' में !

बादल देखा कि बदल जाता,
मन धीरज - धन खो देता है
चुँधियाती बुद्धि कि वज्र बजा
स्वन अन्ध गगन खो देता है !

झूला झूले मन सावन में,
फागुन में फाग न गाऊँगी
क्यों कीचड़ - प्रीत उछालूँगी ?
क्यों रंग-गुलाल उड़ाऊँगी ?

ओढ़ूँगी निविड़ नील तम मैं
पांखों में दुबक न सोऊँगी;
कब नींद उतरती आंखों में
उर में भर नीरवता लूँगी !

छूने न छाँह दूँगी तन की,
क्या प्रणय स्वयं को मान रहा ?
वह जो बचपन में मचला था,
यौवन में हो निष्प्राण रहा !

मैं तड़पी थी, मछली कहती;
रोई थी, है बदली कहती;
यह एक अकेली राधा ही
सबकी बोली - ठोली सहती !

श्रीरज का आँचल कब फहरा,
मन पवन उड़ा ले !—सम्भव है ?
राधा उलटी धारा युगकी,
तट नाव छुड़ा ले !—सम्भव है ?

धारा प्रकाश की बरस रही,
काले नभ को चिल्लाने दो,
तुम अपना लक्ष्य चुनो बढ़कर
स्थावर को रोने - गाने दो !

निर्जल बादल की सुजल झील
पुरवा तैराती हंस - युगल
लाता उपहार क्वार सरि - तट
फूलों का काँसों को निर्मल

कुहनी टेके परछाईं को
जब धूप उतर तरु से छेड़े,
टेढ़ी - मेढ़ी पगडंडी से
लिपटी - सिमटी सीधी मेड़ें !

गन्ने के खेतों में फूली
कलँगी का हरा-भरा कुहरा
टँग जाता मड़ला नीलकण्ठ,
लघु चित्रकेतु जाता फहरा !

भेड़ें पहाड़ से उतर गईं ?
टुकड़ी बदली की आँधी-सी,
झुरमुट में छितवन के वन के,
तितली मचली चकचौंधी - सी

पट उलट चिकोटी - सी काटी
चिहुँकी, सिर पर थी धूप चढ़ी
झर हरसिंगार के फूल गए
चेतना नहाई स्तूप - चढ़ी

लौ देने लगी गन्ध उर की,
सौगन्ध शरद की छितराई;
थी थाह डुबोना चाह रही,
मैं लहर - लहर पर उतराई ॥

इतने दिन तो कोई न व्यथा
थी शरद - कथा कहने आई
पूर्णिमा रास की पूर्ण हुई,
कटकर कि कहां रहने पाई !

बहते जीवन - प्रवाह में सब,
पा कूल - किनारा सुस्ताते
कुछ पीते गरल अमृत कहकर,
कुछ तृषित अमृत पी पछताते !

× × ×

कोई न वृक्ष रौंदे जाते—
तृण का ऋण कभी चुका पाता;
सिर पर वह छाँह भले कर दे,
पर चरण पथी का क्या ढाता ?

यों आँधी - झञ्झा का जितना —
भय है तरु को, तृण को क्यों हो !
वह कभी धूलि - धूसर होगा,
हरियाली ऋण तृण को क्यों हो !

क्षण चुभन - भरे जीती काया
रवि - कर - खरोंच सहती छाया;
टूटा पहाड़, चीते चेते
चमकाना दाढ नहीं भाया !

है आर्तनाद के बिना नहीं
संगीत कभी होता पूरा;
काँटे की नोक मृणाल न जो
सहता, उत्पल होता भूरा !

× × ×

जग का युग-युग का अनुभव है :
वैभव के हृदय नहीं होता;
व्रज है गौओं का चरागाह,
क्रय - विक्रय और कहीं होता !

सङ्कल्प चलाता कालचक्र,
मन अपने प्रण पर न्योछावर,
सौन्दर्य, तेज गानेवाले—
मन को मत क्षण भर ओछा कर !

मरने तक विहग चहकते हैं,
नव कुसुम झूमते ही तुड़ते;
मन, तू न अकेला, मधुवन में—
खो जाना उड़ते - ही - उड़ते !

चीथड़ा - चीथड़ा वस्त्र, थके,
माथे पर धर रीती मटकी,
ओ गोपी, व्रज तज कहाँ चली ?
पथ की आँखें तुझ पर अटकीं !

कुररी करती है आर्तनाद,
उर चीर पपीहा टेर रहा;
निस्तब्ध समीर अधीर अधिक,
डंठल है फूल उकेर रहा !

जड़ गहराई तक फैली है,
तन तना कल्पतरु का तेरा,
मन सुमन, छलकता मधु निश्छल,
आंधी, विद्युत् ने नभ घेरा ?

अकुलाहट, तड़प अजानी यह,
ऊष्मा से प्राण पिघलते हैं,
एकायन सत्य अनुद्घाटित;
उत्तेजित पाँव फिसलते हैं !

विकराल कल्पना आशा की,
केवल विश्वास अनूठा है;
अनचखा एक अपना अनुभव,
आख्यान ज्ञान का जूठा है!

प्रत्यक्ष स्वच्छ अपनी छाया,
काला आलोक हुआ जाता,
सपनाती आँखों ने देखा :
अहि था निर्मोक हुआ जाता!

अनुभव है, मनबहलाव नहीं,
निःसङ्गता न एकाकीपन,
तू परम धाम ठुकरा सकती,
तजना क्या अपना वृन्दावन?

विष-भरा अमृत बरसी ललिता :
विधि तो सँग खाया-खेला है!
यम तुझे फेंकता भी किस पर?
तू तो मिट्टी का ढेला है!

मकरन्द छहरते फूलों के
गुंजार चतुर्दिश भौंरों का,
बाहर-भीतर के जीवन स्तर,
ध्वनिमय प्रकाश सौ ठौरों का!

भावना भावना से मिलकर
रचती ज्यों आत्मा एक नई,
लयमय विवेक, आनन्द छन्द,
सुख में सुख खुलते और कई!

चिकने पत्थर की गति फिसलन!
—निर्दोष बोल पाऊँगी क्या!
अपने में सिमटे-दुबके को
सब पर कि खोल पाऊँगी क्या?

पौरुष शैशव में ऐसा क्या—
विक्रान्त कहीं पहले देखा ?
सुन्दर प्रभावशाली मुखड़ा
उत्पल-दल पर रवि-कर-रेखा !

जीवन सागर तर जाएगी—
रोहिणी, कलाधर-साथ पकड़ !
रमती युगान्त तक अंग-लगी
रह सकती, हरि का हाथ पकड़ !

जल की कलध्वनि का आकुञ्चन
चेतना-तूलिका का स्पन्दन
स्वर-लोक तुझे बहला लेगा,
भूलेगी तू जीवन क्रन्दन !

खिल फूल चमेली के झरते,
हलचल सुगन्ध की, मत्त पवन—
पिछला अपराध भुलाने का—
सन्देश भेजती सरल-गहन !

कहने-सुनने को बचा न कुछ,
हर साँझ सँझौटी जगा चुकी,
अब क्या अनगाया ? कण्ठ झुरा ?
जीवन भर कर रतजगा चुकी !

सूखे पोखर; मर मीन गए,
हैं विकल सरोज मयूख-तए !
चकबा-चकई न कहीं दिखते,
बन कुटिल काल की भूख गए

है धूप ओढ़ती परछाई,
झर गई गाछ की हरियाली;
आँखें हैं धुआँ-धुआँ, नभ की—
पलकों की त्वचा हुई काली !

सुनहली धूप दुःस्वप्न-सदृश
जब उचटी नींद समा जाती;
पिंजरे को खोल उड़े खग की—
उखड़ी पांखें छितरा जातीं !

महके स्मृतियों के वन-उपवन,
तू कह सकती, कब मन लहका ?
जीवन-फल टहनी में लटका,
टूटा कि गिरा जो मुँह बहका !

ले स्वर्णपात्र कम्पित कर में
तीता रीतापन दिखलाती,
है भूखी-प्यासी मृत्यु खड़ी,
जीवन को क्या-क्या सिखलाती !

संगी असंग को शान्ति मिले,
पदचर, सहचर आस्था निर्जल;
आनन्द अमृत आहार, वसन—
अनुभूत वेदना चिर-निर्मल !

यात्रा तीरथ की हो जीवन,
जाना हो नीचे या ऊपर,
बादल-बिजली की स्फटिक शिला
या कुङ्कुम-केसर का निर्झर !

बाहर हो भी रूखा-सूखा,
भीतर हो तरल-तृप्त आत्मा;
हो बन्द कहानी प्रति दिन की,
निस्पन्द खड़ा हो परमात्मा !

तारुण्य-हीन-लावण्य-सदृश
चुचका-पिचका-सा बिखरा नभ;
सूखे मुख पर न हँसी खिलती,
निर्माल्य न भर पाता सौरभ !

कैसी गुण - ग्राही विपदाएँ,
दुष्टों के पास नहीं जातीं;
संगीत-भजन सुनतीं न कभी,
अन्तर में वर्जित स्वर गातीं !

पीले कपास के खेत खड़े
तन-मन में भरते पुलक रहे
अब उष्ण उसाँसों से सिसके,
कलपे, तड़पे झुक उझक रहे !

चुन लाए बये नए तिनके,
घोंसले बनाए यहां - वहाँ;
अब कौन ढूँढ़ने जाएगा :
गिलहरियां रहतीं कहाँ-कहाँ ?

मैना टिड्डे चरवाने को
बच्चों को लिए-लिए फिरती;
बिछ हरसिंगार जाते पग पर
खंजन की टोली डग भरती !

अब ओस भरोसा करुणा का,
संवेदनशील गगन - मन है
चप-चप पग-ध्वनि, नीरव स्वर-स्वन,
चल लिए बहुत ! कम्पन तन है !

बीते दिन कौन बुला सकता ?
अच्छी घड़ियाँ न अधिक होतीं,
पतझर पर पतझर बीत रहे,
कुसुमावलियाँ न वधिक होती ?

सहसा स्वर बदला ललिता का,
हो पुष्प गए पीपल - पाकड़;
जुड़ता जो लक्ष्य अलक्षित से
पथ हुआ वही ऊबड़ - खाबड़ !

विद्रोह, निषेध, रूढ़ियों को
आवेश झिझोड़ रहा कब था,
क्यों असमंजस में युग बीता—
कुण्ठित धारा - प्रवाह जब था ?

स्थापित न व्यवस्था थी कोई,
थी असन्दिग्ध पहचान हुई
अनुशासन था मान्यता नहीं,
विक्षुब्ध बुद्धि कब प्राण हुई ?

क्या आत्महनन की सार्थकता ?
प्रणयाराधन ? एकाकीपन ?
हो विरह विराट भले नभ से,
धरती कि परस्परता - वर्द्धन !

दुख आर्त प्रणय का सहो स्वयं,
मरणोत्तर फल मिल जाएगा !
जब नभ बोएगा अश्रु - बीज,
भू पर पत्थर खिल जाएगा !

कुछ चमत्कार दिखला ललिता,
है प्रणय परायापन मन का;
सन्दर्भ बदल दे वह कहती :
'जीवन अधिनियम नहीं तन का !'

तू हुई अकेली क्या वञ्चित ?
किस किसके मन में झाँका है ?
मान्यता पुरानी हो जितनी,
किसका मन आँका - बाँका है ?

जीवन की ग्रन्थिलता सुलझे,
उलझन तो नई कहाँ जाएँ ?
सुख - दुख उलझाते - सुलझाते,
पथ रुई, सुई, कि जहाँ जाएँ !

हो गया अचानक ही सबकुछ !
श्यामल को पाना, खो देना;
नाचना मोर के पंख लगा
झकझोर बांह हँस रो देना !

हो गया अचानक वह जर्जर
रस सूख गया, कुछ ज्ञान बचा;
अब वही ऊलीच रहा मरु में,
अपनी बबूल - पहचान बचा !

सुख भोग लिया गाढ़े तम का,
झीना प्रकाश है उड़ा रहा;
दुख को आध्यात्मिक बतलाकर
जग के प्राणों को जुड़ा रहा !

आया सन्देश अचानक है
मैं थी न अचानक जा सकती;
तू कहाँ जायगी ब्रज तज कर
क्या यहाँ द्वारका आ सकती ?

दिन में तारे दिखलाऊँगी
जो दिखा चाँद दिन में काला;
वह पाप-बोध से पीड़ित है,
कर रहा पुण्य बैठा - ठाला !

माँ के कहने पर जाऊँगी
करने परिक्रमा धरती - सी
आलोक विवशता है पथ की
उर में भर तिमिर निखरती-सी ···

देखो न पखेरू को उड़ते
उसका न जन्म दुख का पर्वत;
उसका न मरण दुख का सागर,
दुख का अभाव सुख उसे सतत !

पीली - पतली किरणों - जैसी
अङ्गार उँगलियों का चिनगी
बालू की बेला पर आंकी
तू देख रही तरु की फुनगी !

भँवराए पत्तों के गुच्छे,
लहराया सौरभ का सागर,
तितलियां तैरतीं मछली-सी
डूबे-उतरे उर की गागर !

तलवार-धार पर चले, चले;
निर्वैर न स्वर कर्कश सीखे
रवि खोल सकेगा छुरिका-छवि ?
कर बढ़ा रहा तीखे-तीखे !

ढहते कगार, चौड़ी होती—
कौड़ी की तीन नई धारा;
मैं जल में जलूँ कमल दल, या—
घुट मरूँ—न जलकुम्भी कारा ?

पूछा करते जो क्षेम-कुशल
व्रण भरा कुरेदा करते हैं;
जीवन उधार दे जीवन का
स्थिर लक्ष्य विभेदा करते है !

देते भर मन में दम्भ-द्वेष,
विश्लेषण करते भावों का,
जो डुबो यात्रियों को डूबी,
हैं मूल्य बताते नावों का !

× × ×

सखियां पूछा करतीं : उनका—
—'नाती-पोतों से भरा सदन
पत्नियाँ जहां करती किच-किच;
क्यों याद तुझे हैं बाल मदन ?'

'कैसे समझाऊँ? मैंने तो
उनका बचपन ही जाना था;
मैं मरूँ जरा-जर्जर; परन्तु—
वह अजर अमर हैं, माना था!

तम भ्रम है तो निर्मल प्रकाश—
उससे भी बढ़ा-चढ़ा भ्रम है;
दोनों जुड़वां हैं, दोनों के—
हैं क्षेत्र जुड़े; न अधिक, कम है!

झंझा सो जाए; सदय समय
दे ले अन्विति घटनाओं को,
एकान्त शान्त हो भीतर से;
मन लौट गया हो गांवों को!

सपनों को सुला दिया दिन में
थे थके रात भर जग-जग कर
सांसों के संग रही आत्मा
मेघल नभ से हल्के लग कर!

ओरे अतीत, तू प्रीत-भरा
पन्ने की भूमि, गगन सोना
चूनर नवरंग दिशाओं का
अलसाई अँगराई, टोना!

फटती पौ तप झरती ऋतु की
उड़ते-से स्पर्श गन्ध-घन के
ललछौंही सांझ सपन-सर की,
ओ रे संगीत धुनी मन के!

धानी सारी, सरका आंचल
फूली सरसों का, डगमग पग
डोरे बहुरुपिये ने डाले,
लेते समेट थे तुझे सुभग!

ओ तरुण-दृष्टि आह्लाद-भरी,
ओ आकाङ्क्षा के अरुण नयन
धूमिल सुदूर से जुड़ने को
ओ धूल उड़ाते फूल - अयन !

यह तो न क्षुण्ण, मैंने पहला —
पग रखा बहुत डरते - डरते !
जब जुड़े लक्ष्य से तब पथ हो,
मैं पहुँच सकूँ जीते-मरते !

चन्दन वन की मैं वेणुलता
फूले कदम्ब, मैं भूर्जपत्र;
निर्गन्ध निरक्षर मर्मर स्वर,
उड़ती रह आई यत्र - तत्र !

मैंने झाँका झुक आँखों में,
देखी अपनी ही परछाईं;
सोचा, सच श्याम पुतलियाँ ठग -
मुझको क्यों अपने घर लाईं !

थी पकड़ तुम्हारी छलना पर
मेरी सब दिन ढीली-ढाली;
छवि बसी तुम्हारी अनियारी,—
आँखों ने भ्रम - ममता पाली !

मेरे अन्तर में कौन बसा ?
किसकी आँखों देखा मन को ?
निर्भय तुमने था किया मुझे
क्या मरण डराता जीवन को ?

सुख कहकर दुख दिखलाया; थे-
पलकों पर चढ़े - चढ़े रहते !
निर्लेप तुम्हारा दुख-दर्शन,
अब भी सब लिखे-पढ़े कहते ?

सुधि विसुध तुम्हारी क्या आई
सँभला - सँवरा मन मात गया
सुख सपनाते दुख - रात गई,
आँखें खुलते हो प्रात गया !

कीली चक्के की धुरी घुमा
है घूम रही अनथाहे में
मैं भूत - भविष्य विचार थकी,
है वर्तमान अनचाहे में !

संयुक्त प्रयत्न सबल होता,
कीचड़ से खींच निकाला-सा—
लिथड़ा भी बाहर आ जाता;
सिकुड़ा भविष्य पग-छाला-सा !

वध किया उन्हीं का था तुमने
जो तुम्हें मारने आए थे
जय हुई उन्हीं अपराधों की
तुम स्वयं हारने आए थे।

सबके जीवन में गरल घुला
अच्छा न लगा अपना जो था;
जीवन-यथार्थ सब भूल गईं
देखती रहीं सपना जो था !

तुमने जीवन भर युद्ध किया,
बाहर - बाहर सब ने देखा
जो सब लड़ती थीं अपने से
वे गई कहाँ तज पद - रेखा ?

उनका लेखा - जोखा लेता
ऐसा कोई गणितज्ञ नहीं
उनके उजड़े जीवन का क्या ?
जग खँडहर - ढूह-अभिज्ञ नहीं !

जिसने लड़ अपने को जीता
वह है नगण्य अपदार्थ यहाँ;
आपस में मचती मार - काट,
वह कहलाता पुरुषार्थ यहाँ !

अर्जुन ने गुरु - जन को मारा
उपदेश तुम्हारा सबल हुआ !
वह रहा अन्त तक पछताता
निष्पत्र-पुष्प तरु सफल हुआ !!

सम्पन्न लोक - संग्रह न हुआ
सब मरे तुम्हारे डर से ही ?
सच संविधान शुचि हिंसा का
लिख गया तुम्हारे कर से ही ?

उत्सर्ग प्रणय का अर्थ हुआ
सीता सँग जब पाताल धँसा
इस बार फँसा ब्रज दलदल में
लख ऊपर से आकाश हँसा !

सीता थी व्यष्टि, समष्टि विरज,
सम्मिलित यहाँ आकाङ्क्षाएँ
तुम समझ न पाए मर्म-मौन,
क्या ध्वनि-प्रतिध्वनियाँ बतलाएँ !

आगे समष्टि का पाठ पढ़ा
तुमने था स्वर - संगम साधा,
अब तुम एकल उदात्त सुर हो
मानवता का क्रन्दन राधा !

वैभवशाली अपने भव का
वैभव देखो, आँखें सेंको,
है शेष सृष्टि शोषित पीड़ित
क्यों उस पर एक दृष्टि फेंको !

इतिहास विश्व का बदलेगा :
राजा - रानी न कहानी में—
होंगे, जन-जीवन मूक व्यथा—
समझो, हो कितने पानी में !

जीवन है व्यङ्ग्य-विनोद नहीं,
तुमने क्रीड़ा की पीड़ा से;
हम मरे तुम्हारे मारे कम,
ब्रज रज में मिलता ब्रीड़ा से !

तुमने पहुँचाई चोट बहुत
पीड़ित मानवता को चुप रह;
तुम जागरूक रह सके नहीं,
जम समय गया है कितना यह !

केवल अपना मङ्गल देखा
राजन्यवर्ग मुँह सिए फिरे;
पिछड़ी जनता से क्या बनता ?
तुम मुट्ठी भर नृप लिए फिरे !

स्वान्त सुखाय नृप दुख देते,
बहुसंख्य प्रजाएँ मर जातीं
हों घेरे वात्याचक्र उन्हें,
कलियाँ अधखिली झरी जातीं !

आनन्द कहाँ ? उपयोग नहीं—
कर पातीं उन अवदानों का
जो उच्च शिक्षितों हेतु रचित,
जो गुच्छ विभव के गानों का !

तोड़ीं परम्पराएँ तुमने
जो हैं समृद्धि पर सुदृढ़ खड़ी ?
सर्वोपभोग के योग्य, कभी
कुछ नया विचारा एक घड़ी ?

जो हैं समाज में दीन - दुखी
उनकी समष्टि - गत इच्छाएँ
तुमसे कुछ आशा रखती थीं :
अवसन्न विपन्न कहाँ जाएँ ?

अब उदासीनता तुम छोड़ो,
पीड़ा, उल्लास बखानो तो
निर्भीक नया युग बोलेगा
उसके सपने पहचानो तो !

असहाय उपेक्षित के आँसू
होते हैं जल के बिन्दु नहीं
सारे तारे उनके साथी,
प्रिय एक अकेला इन्दु नहीं !

चिन्तक संवेदनशील नहीं,
निर्णय निष्पक्ष नहीं होगा
मूकों की भाषा जो न सुने
वह अन्तर स्वच्छ नहीं होगा !

मुट्ठी भर राजे या अगणित
निष्किञ्चन गूँगों की टोली,
चुन लो अपनी रुचि से, किनकी—
सुननी होगी बोली - ठोली !"

काले कमलों-सी खिली - खिली
रजनी को ललिता डँसती थी।
मटमैली सन्ध्या से हो वह
अटपटे बैन कह हँसती थी

"तुम हो प्रभास लड़ने जाती,
अड़ने अपने कटु वचनों पर ?
या दरस - परस को तरस मरे
जी के शूलों को सुमनों पर—

न्योछावर करने ? अनडूबे
सपनों को अनबरसे घन में—
खो देने या कि डुबो देने—
अनथाहे के छिछले मन में ?"

"वापस आते हैं तीर नहीं,
मैं तीर फेंक कर लौटूँगी
क्या बात बनी ?—फिर सोचूँगी
रूँधूँगी, मुँह खुलवाऊँगी !

सूखी गुठली - सी रस-फल की
कोई - सी बात निकल आए
आधी अटके, आधी भटके,
यों सारी रात निकल जाए !

काजल से ज्योति निकालूँगी,
मैं दिशा - शूल में जाऊँगी
सम्मुख चन्द्रमा रहा तो फिर,
बेतों के झुरमुट में हूँगी !

मेरे डैनों में मोर - पखा,
मेरे स्वर में होगी वंशी,
यदि मैं शिरीष - वन में भटकी :
क्यों जीवन हुआ मरण - दंशी ?

काँटे बबूल के बतलाए
थे गए कमलदल के काँटे
वर इन्दीवर उनके बाँटे
शृङ्गी त्रिशूल अपने बाँटे !

अपनी वय न्पती धूप भले,
उनके दृग सूखे सावन हैं
मैं नाम एक तरु - तन - अङ्कित
वह रूप धराधर-धावन हैं !

वन पर सब शस्त्र खिंचे रहते,
आनी अब अपनी भी बारी
चिन्ता परन्तु क्या, यह जीवन
सौ बार मरण से है भारी !"

"यह उपालम्भ तो दम्भ बड़ा,
तुम क्रुद्ध अकारण लगती हो,
प्रत्यक्ष पक्षधर पीड़ित की;
अतिशय साधारण लगती हो !"

राधा ललिता से लिपट लपट—
सी उठीं चढ़ा कर स्वर बोलीं :
यह अहङ्कार की घटा घनी,
कस्तूरी दिखती है रोली !

प्रज्ञा की किरनीली झञ्झा
झकझोर उड़ा दे फटी घटा
तब वह समग्रता में दीखे
तुम जिसे बतातीं बढ़ा, घटा !

वह है पवित्र आलोक प्रथम
उद्‌गम - द्युति के पहले फूटा
शाश्वत मयूख अन्तर्नभ का
भास्वर प्रभाव भव भर टूटा !

जो भूला अहं, वही झूला
निर्बन्धन मुक्ति - हिंडोले में
जो अहङ्कार का मारा है,
वह मगन चाँदनी चोले में !

मणिजटित मूठ सोने की असि,
कर सकती निशित प्रहार कभी ?
तुम उन्हें आज झुठलाओगी
जिनसे करती थीं प्यार कभी ?

भौतिक सुख की आकाङ्क्षाएँ
ल छीन शान्ति, फिर क्या पाना ?
तुम अप्रसन्न हो, अलम नहीं,
यह निकट, निकटतर ही आना !

सब पर न रोष, आक्रोश तुम्हें,
केवल उन पर, केवल उन पर
हम हैं वन की हिरनी उन्मन
मर-मिटना बीन ! हमें धुन पर !

दीपक प्रकाश देता, उसका
उपयोग समान नहीं होता
कोई उसमें निज को ढूँढ़े,
कोई वह, जो न कहीं होता !

जो तारे निशि के प्यारे हैं
वह दिन को कहाँ नहीं दिखते
दुर्भाग्य अंधेरे की रचना,
दिन 'स्वर्णिम अक्षर' हैं लिखते !'

ललिता झपटी : मैं तो तेरा
दुख देख न पाती, बकती हूँ,
तू किन्तु अबूझ पहेली है,
यह बल पूर्वक कह सकती हूँ !

"कब क्या कर लेगी, कह देगी ?
अनुमान लगाना अति दुष्कर !"
मैं बोली : जीवन में नव रस—
घोले, तो हो स्वर अविनश्वर !

नीलिमा - हरीतिमा मिला देख
भीतर बाहर हो एक तभी
जो लगता विषम, विसंवादी
हो प्रीत गोत की टेक तभी !

नव रस का षड् ऋतुओं - जैसा
व्यक्तित्व स्वभाव - प्रभाव पृथक्
संश्लेष सभी का जीवन है
विश्लेषण तो है मरण - मिथक !

तू मुझे, उन्हें तो समझ थकी,
अब समझ स्वयं को, बारी है,
समझी कि परावर दिख जाए,
भौतिक से आत्मिक भारी है !

सकता कोई सबका दुख हर
तो सिन्धु बिन्दु में गहराता
क्यों बिन्दु मचलता मिलने को
मिलने से क्या आता - जाता ?

सब बिन्दु, सभी नद, सौ नदियाँ
आकाश - धार सौ बार भरे
पूर्णता प्राप्त होती न उसे,
क्यों सागर हाहाकार करे ?

स्वजनों के आगे रोने से
कहते हैं जी हल्का होगा
मुख तेरा सुख का दर्पण है,
कब मेरा दुख झलका होगा !

जीवन पहाड़-सा पार किया
चल संग धेनुओं, बछड़ों के
नाची मिल मोर-मयूरों में,
हँस पोंछे आँसू बिछड़ों के

दुर्लङ्घ्य लाँघ इस पार खड़ी
उस पार छोड़ आई ममता
तू अहङ्कार - गिरि पर चढ़कर
जन-मन में ढूँढ़ रही समता !

अनसुना नहीं रहता क्रन्दन
जो हृदय चीर बाहर आता
तृष्णा पर विजय सिखाता जो
है कृपण नहीं, वह भी दाता !

दे सिखा तैरना, नाविक तो
खेकर ही पार लगाता है;
ध्याता जो रूप, सुअवसर पा—
वह तदनुरूप हो जाता है !

सब रस में मन को रमा रखा
रोई, गाया, सुध बिसराई;
फिर ऊबी - डूबी स्मृतियों में,
सूखे सैकत पर उतराई !

मन के अमूर्त आदर्शों को
अनदेखे सपनों के क्षण को
धूमिल विचार - व्यापारों को
हल्के खरोंच सूखे व्रण को !

भारी अवकाश भरा मैंने
तेरे तर प्यार-विनोदों को,
लख नभ की प्यासी आँखों को
धरती की भूखी गोदों को

पर-गुण निहार विस्मित चित से,
पर-दोष ? छान छिद्रित मन को !
उज्ज्वल न रेत ही है होती,
नव रस भर परखे जीवन को !

पालतू प्रकृति होती धृति से
उत्पीड़क घड़ियाँ श्रम - गीली;
सह कसक अह होता कुसुमित,
तम सहकर छाता किरनीली !

युग को कर अपनी मुट्ठी में
जब चाहा खोला, बन्द किया
सिरजा, संहार किया, पाला,
दे पख गगन निस्पन्द किया !

जो किया सो किया कर्मी ने,
मर्मी ने भेद नहीं खोला;
पहले कर दिखलाया, पीछे —
आत्यन्तिक होने पर बोला

सिखलाई जड़ को कर्मठता,
हमने क्या किया ? समीक्षा की !
उनने घन - वन - पर्वत रौंदे,
हमने क्या किया ? प्रतीक्षा की !

गति-विधि का अग-जग द्रष्टा है,
निःशब्द साधना निष्क्रियता
हमने है जीवन गँवा दिया,
उपलब्धि कृष्ण की निःस्पृहता ।

हमने जो चाहा, पा न सके,
सब मिला, उन्होंने कुछ चाहा ?
जिसने मुँह खोला, पछताया,
वह डूब गया, जिसने थाहा !

दुख बरसा सिर पर, मुख पर तो —
छिटकी ज्योत्स्ना अनुभावों की,
नट नागर नगरों में भटके,
अटकी सुधि में मैं गाँवों की !

मिलना स-शरीर न सम्भव था,
आत्मा तो पृथक हुई न कभी !
हम एकाकार नहीं कब थे,
आड़े आई थी दुई कभी ?

पावक - प्रदीप्त, रवि - वर्चस्वी,
संस्कार बिचार वचन रचते
जब कुरुक्षेत्र धर्मार्थ गए
स्वार्थी ब्रज से बचते - बचते

तन रतन - जड़े—पर्यङ्कोचित
भू - गर्भ दर्भ - संस्तर पर सो
निष्प्रभ को ज्योतिर्मय करते
सुख-समुदित दृग, ओठों में रो

तब अप्रमेय-प्रतिभा ललिता
पीछा करती है चली गई;
मिल खिले हृदय-कैरव उसका,
मुख - चन्द्र देखती छली गई।

हो अन्तरङ्ग गृह उद्भासित
वैतान वह्नि की ज्वाला से
कृतकृत्य लौट आए कालिका
आश्लेष - त्रुटित वनमाला से !

× × ×

अपना आराधनगृह सूना
सुधि से सुधि जब-तब टकराई
राजा - रानी की कही - सुनी
कोई न कहानी बन पाई !

हों राम - सिया, नल - दमयन्ती,
सब विश्व - विदित राजा - रानी
बन रही कहानी यह पहली
ग्वालन गोकुल की अनजानी !

जब जीवन हार गई प्रण कर
मनचली रीत तब जीत गई;
प्रतिवार माँगती है बलि ही,
जब होती कोई प्रीत नई !

× × ×

अत्याज्य त्याग कर याग करे
त्रेता की कथा पुरानी है;
अब के राधा की बारी थी,
नारी की व्यथा पुरानी है !

है नयननीर में प्रतिबिम्बित
अपना ही मुख, क्या दुख नभ को ?
मैंने न चुराया उसका विधु,
क्या शिशिर रचे मधु निष्प्रभ का ?

जो अब अप्रासङ्गिक लगता
वह एक समय नूतन तन था,
अनुरूप आज जो है युग के,
कल उसका ही सर्जन मन था !

जो है जल-थल में व्यक्त सतत,
अव्यक्त वही कहलाता है;
जो सबकी आँखों देख रहा,
वह क्या पत्थर नहलाता है ?

निर्झर बहता अपनी रुचि से
कोई न पन्थ दिखलाता है;
किरणें रवि-शशि की सब को छू
शुचि रहतीं, रुचि का नाता है !

मुँह खुलता नाक दबाने से,
नर्तक कि पाँव थिरकाता है;
मानो न देव तो पत्थर है
जिससे मन ठोकर खाता है !

क्या मनगढ़न्त, अटकलपच्चू,
जो स्वप्न सहारा जीवन का ?
अठखेलियाँ न सूझे नभ को ?
है क्रीड़ास्थल रवि का, घन का !

अन्तिम पड़ाव पर पहुँच पलट
भटकाव-चाव हूँ तोल रही;
प्रेरणा मदिर गुदगुदी भरी
प्राणों में सौरभ घोल रही!

ललिता पर्वत की ज्योत्स्ना थी
चन्दा - पथ की शीतल छाया
कितनी दूरी की पार ? पहुँच—
मन के पहले तन था पाया ?

पेड़ों से फूलों की वर्षा
निःश्वास नहाकर चलते थे
शाद्वल सुनील तलवे रँगते
सौरभ - मरन्दमधु ढलते थे!

थी हवा घुला देती माथा,
गाथा प्राणों की मौन कहे;
वापी में उत्पल, पद्म, नलिन,
आँखें बिछला छाव कौन बहे ?

सूखा इन्धन हो यहाँ-वहाँ
तो अग्निदेव का क्या कहना ?
वन-बाग आग-सा जलता हो
तो कज्जल जल में क्या रहना ?

सुख से सुख कब मिलनेवाला,
तप कर जीवन को जला दिया;
कोई कहता है, बुरा किया,
कोई कहता है, भला किया!

क्या अच्छा, और बुरा क्या है,
निर्णय उद्दण्ड - विनय करते,
तप करते विघ्न बहुत होते,
तब क्लेश-बहुल जीते-मरते!

जिन शब्दों में सोचा करती
वे फैला पंख उड़ा करते
अनथके गगन - मन माप गहन
उत्सुक उर ओर मुड़ा करते

ऋजु दृष्टि, घनी छाया सुधि की,
कुछ क्षण दुलार के अश्रु-भरे
नीरव शब्दों की व्यथा - कथा
स्वर्णिम क्षण के व्रण करे हरे !

खोता कदम्ब - मर्मर - स्वर में
फूली साँसों का मुरझा स्वन;
विधु नखत-पाँत में है खोता,
वहुवर्ण दिवास्वप्नों में मन !

जैसे तरु में पत्ते आते
खिलते है फूल, गन्ध भरते
ऐसे जीवन हो सहज सरल
सुख-दुख श्रम-कण-से हों झरते !

बीहड़ में, पर्वत - प्रान्तर में
जैसे उग आती घास स्वयम्
जीवन को ऐसे उगने दो
रोपो न आस - विश्वास स्वयम् !

तम की चादर से तुम ढकते,
मैं ढकती नभ को किरणों से;
धुँधले मटमैले पट मेरे,
सपने छलांगते हिरनों - से

मैं ज्योति-चाँदनी के सपने,
हूँ नील गगन, निशिदिन बुनती !
मत रौंद इन्हें देना, मैं थी—
जीवन भर स्वप्न-कुसुम चुनती !!

कब दिन-दुपहर रवि-कर उतरा
सर भर विकसे जलजातों में ?
घन का घमंड जब भी बरसा
चन्दनी चाँदनी रातों में !

पर्वत पर रात उतरती जब
वन में सन्नाटा छा जाता
कोई अनुगूँज भटकती है—
कब मैं नाची, कब वह गाता ?

सुन्दरता का मन्दिर अनगढ़,—
गढ़ता रहता मन आँखों में
आमन्त्रण मुखर पवन - स्वन में
सन्देश विहग की पाँखों में

ज्वारों से घहरा सागर लख
चख चुँधियाता : ऐसे होंगे !
मुझपर निर्भयता ही बरसी,
सूखे तटस्थ कैसे होंगे !

थी स्वप्न स्वप्न में देख रही :
मैं ही कदम्ब - तरु - मञ्जरिका
आई गवाक्ष से एक किरण
मुसका कर बाँधे अञ्जलिका !

पञ्जर से छूटी-सी विहगी
ताली पल्लव पर जा बैठी
सौन्दर्य - सुमन - परिमल पीने
दृग की भ्रमरी निःस्वन पैठी !

फूलों तक सेमल सुन्दर है,
फल - लोभी धुनी रुई पाते;
ताली - तरु - मर्मर मोहक है
लगता नभ में किन्नर गाते !

जो कृष्ण नहीं, वह उज्ज्वलता
किन काली आँखों से हेरे ?
घोंसला बना पाई न बया
पावस - मानस नभ को टेरे !

वह क्षण, आया न पकड़ में जो,
वह क्षण जो कर से निकल गया
मन बनजारा गाता न थका :
जीवन दुख व्रण, है मृत्यु दया !

कोई पड़ाव जिस यात्रा में
होता न, वही साँसों की है;
विश्वास बाँसुरी में बजता,
गूँगी आशा बाँसों की है !

तीखे होंगे आक्रोश जहाँ,
आत्मा थोथी कुण्ठित होगी
उत्तेजित शब्द जहाँ होंगे
मार्मिकता अवगुण्ठित होगी !

पतझर पर ऋतु-गति नहीं रुकी
मधुमास उपासा पास खड़ा;
जैसे सोई सच्चाई में
संशय - कीटाणु उदास पड़ा !

अपनी पहचान न खो जाए
अपने - अपनों के जंगल में;
सच को सहेजना ही होगा
सुन्दर सपनों के मंगल में !

जो टूटी हुई टहनियों में
घुटते - से लटके फूल यहाँ
उनके संकल्प समर्पित हैं,
जीवन प्रवाह का कूल जहाँ !

हँसों की प्रकृति निराली है
वह घुले - मिले को बिलगाती;
बौद्धिक क्षमता ही क्षमता है,
भावुक ममता आँसू गाती !

अन्धड़ - आँधी स्थिति एक उड़ा
दूजी से जोड़ा करती है;
जो झेल न सके विषमताएँ
वह डाली तोड़ा करती है !

ग्रन्थिल आदर्श उसे लगता
जीवन यथार्थ में जो उलझा
उलझन यथार्थ का लक्षण है,
आदर्श स्वच्छ, निर्मल, सुलझा !

दीर्घायु पुरातन तरु - तन से
टटका फूटा नवपल्लव है;
अधुनातन नया पड़ाव नहीं,
आगे बढ़ने का पग - रव है !

आकर्षक नाम, गया छू मन,
यह शब्द ? अनाम नया था क्या ?
तुम कृष्ण हुए अपनी कृति से,
गीता का काम नया था क्या ?

लहरों पर दिए जलाकर ही
मैंने वय-सागर पार किया
कालिन्दी बही - बही फिरती
इसने है किससे प्यार किया ?

मन-प्राण डुबो पाई न किन्तु
घहराता सागर पार किया
इस पार शिला, उस पार मिला—
सुर सैकत, हाहाकार किया !

लावण्य - कान्ति प्रेमल आँखें,
मुसकान-धुली रस-बस भाषा—
सबको सबदिन है सुलभ नहीं,
जाने क्यों लगी रही आशा !

हैं नाम अभावों के उतने,
जितने भावों के कब होते ?
विश्वास, आस, अभिलाष अमित,
झुक जाय रीढ़ ढोते - ढोते !

पूरी हो तो अभिलाषा क्या ?
हो सफल मनोरथ, पथ भूले !
विश्वास न टूटे विपदा में,
धरती सोए ही नभ छू ले !

हाथापाई में हाथ लगी,
खुल खर्राटे में गाँठ कटी;
अपना कब किसे समझ बैठी
कपटी प्रतीति ! क्या लाभ-घटी !

होती न आन्तरिकता गहरी,
धरती न भार इतना सहती;
स्वर को न जूझना जो पड़ता,
लय में न वेदना कुछ कहती !

ऊँचाई से लुढ़की सरिता
किसकी गहराई माप रही ?
उत्तुङ्ग तरङ्ग सरित्पति की
नभ की ऊँचाई छाप रही ?

बिछ गए फूल शुचि सुधियों के,
मीठे सपनों को सोने दो,
है झरा पत्र जीवन - तरु से,
फूलों को गन्ध सँजोने दो !

मैं हूँ, तो तुम हो निःसंशय,
थक गए बहुत हो, मन कहता;
हूँ घिसट रही मैं भी, अब यह–
देखो, कब दहता तन ढहता!

आगे भागे थे; अन्त समय
सूने वन में हम साथ रहें!
साँसें टूटें जुड़ कर, गुँथ कर,
फैले दोनों के हाथ रहें!

है कौन जिसे मिलता सब कुछ,
जितना मिल पाए, पाना है;
जीवन सुख-दुख का सरगम है,
हर मरण तरङ्ग-तराना है।

दुष्प्रेक्ष्य सूर्य-सा तेजस्वी
मणि-काञ्चन-रत्न-किरण-रज तज
हो जाता अस्त : सत्य-शुचिता,—
गुण-सम्पद मुरझ-से पंकज!

× × ×

खट्टे सुस्ताने ने छुट्टी
मीठी कर दी, क्या सोच थके
पतझर भर गिनते रहे खड़े :
तरु तज कितने पत्ते खिसके!

ऋतुपति थे, बिसर गए, खोए–
खोए-से सब दिन रह आए!
रीती ही बीत गईं ऋतुएँ,
गिरि-उर से निर्झर बह आए!

रह गए सहज तुम तन-मन से,
नभ भी इतना खो रो जाता;
विस्मय से ब्रज ने जो भोगा,
सुन सुर-पुर पागल हो जाता!

ब्रज ने रज-कण-से जीवन में
भू-नभ का प्यार सँजोया है;
झोंकी न धूल युग के दृग में
आँसू से अन्तर धोया है !

पशु को भी प्रकृति सिखाती है :
जीवन-निधि केवल प्यार यहाँ;
हो प्यार मूर्खता ही मन की,
पर प्यार बिना तन भार यहाँ !

अनचीता प्यार कभी मिलता,
चाहा न निबाहा जा सकता;
है चाटुकारिता प्यार नहीं,
उर-सागर थाहा जा सकता ?

× × ×

उस दिन कदम्ब-वन के गहरे
अँधियारे में दूर्वादल पर
अधलेटी, विहगों का कलरव
थी सुनती निश्चल-दृग् जल भर।

थे टेर रहे पंछी : पागल -
करते हैं प्रेम, न मेधावी,
जो असह सहे वह प्रेम करे,—
निज कर से अलिख लिखे भावी !

भय से पत्ते पियरा जाते
पतझर की मार अझर होती;
यों मूंगे-से टूसे कढ़ते
पन्ना-सोना सजते मोती !

बहरे नभ को संवेदित कर
क्रन्दन से भरता सूनापन;
वह प्रेम प्रसारित हुआ कभी
जो अनुभव करता गूंगा मन ?

पंछी कहते थे : क्षमताएँ
क्या हृदयहीन करतीं जग को ?
सभ्यता छलावा कर सकती,
दे प्रगति भुलावा यदि मग को !

असमय अवसान किसी का हो,
सागर सूखे या नभ छूटे;
सूर्योदय कुन्तल—मेघ ढके
या ज्योत्सना पर बिजली टूटे !

असमय अवसान, सहज साक्षी
भोगा मर्मान्तक पीड़ा का;
उस अनासक्ति का जो ज्ञाता,
जीवन का कौतुक क्रीड़ा का !

खोई - खोई - सी मैं रहती,
प्रति बिन्दु सिन्धु घहराता है;
वनपंछी जो बोले स्वर में,
मेरा अन्तर गहराता है !

वन की हराइयाँ मन हरतीं
निष्पलक गगन तकता रहता
दृग जूझ रहे मृग सपनों से,
अपनों से व्रण पकता रहता।

अनबूझा पथ क्यों पकड़ा था ?
जकड़े-से पाँव प्रथम डग से !
सब कुछ सबसे मिलता-जुलता,
क्यों सगुन विचार रही खग से ?

जो शल्य सफल होता, क्यों मैं—
निष्फल ठहराती साँसों को ?
मुँह-लगी बाँसुरी ही होती,
क्यों हाथ लगाती बाँसों को ?

मन में आनन्द समेट रही,
चन्दन - कस्तूरी - गन्ध उड़ा;
निस्पन्द गन्ध-गुण धरती हो
मैं चिदाकाश से रहूँ जुड़ी !

माएँ न सुनाएँ दन्तकथा,
राधा जीवन्त कहानी है,
कानों से कर्णामृत पीते,
यह तो आँखों का पानी है।

पल विफल पलातक उड़े चले,
सिमटी साँसें उलझा न सकीं,
है जिन्हें पलटना नहीं कभी,
रातें उलझी सुलझा न सकीं।

प्रतिबिम्ब उभरते स्मृतियों के,
आँसू दर्पण बन जाता है;
मन की न सिसकियाँ मैं सुनती,
स्मित से क्रन्दन छन आता है !

× × ×

प्रकटीं यशोमति मात
रख नाल पर जलजात
चिपका लिया उर-बीच
घन नयन-जल से सींच

कहने लगीं धर हाथ
मेरा उठा कर माथ
अपनी नियति है एक
सब विफल बुद्धि विवेक

जैसी अन्धेरी रात,
है मेघ मेदुर प्रात !
अयथार्थ जैसी मात
अपदार्थ सुम मधुवात !

नाते भले हों भिन्न
डालें टिकी हैं छिन्न
दुख लख तुम्हारा मैं न
पाई निमिष भर चैन
क्या कर रही इस ठौर
चलना नहीं घर और ?

बोली हुलस मैं : मात
समझीं हृदय की बात
सच, ढूँढ़ती वह ठौर
निकले न थे जब बौर

कैसी कदम की छाँह
सो लूँ बिछा कर बाँह !
यह ठौर कोई और
पद-रज हुआ सिरमौर !

कैसे हुआ परिवर्त्त,
चल जल हुआ आवर्त्त !
वे दिन कहाँ ? क्या आज ?
वह था कपोत, य' बाज ?

ऐसा हुआ क्यों मात,
क्यों कण्टकित जलजात ?
दृग अश्रु - पूर्ण सँकोच
बोलीं यशोमति सोच:

थीं तुम शची, वह शक्र,
कैसा चला यह चक्र ?
है रोहिणी विधु-हीन,
भैमी अ-नल जल-लीन ।

मृग-शिशु-नयन वन खोज
हरि-प्रीति का बन भोज
ऋतुएँ बदलतीं वेश,
बरखा सुखाती केश !

अंगरा शरद अम्लान
झर चाँदनी मुस्कान
रखती नहीं कुछ बीच,
कमलों सजाती कीच

हेमन्त - शिशिर उदार
तज भेद उपल-तुषार–
हो एक जाते; भीष्म
श्रम-कण वहाता ग्रीष्म

उटता पसीज अनन्त
भय-ताप का कर अन्त !
बदला न देश न काल
ऋतु भूल बैठी चाल

राधा, तुम्हारे हेतु
सकता न बन क्या सेतु !
कोई निकलती राह,
नभ फूँक, कर दिग्दाह !

राधा हँसी : हे मात
हो और कोई बात
दोनों गए हम चूक
पूछा, हुई मैं मूक

पाई न कह, थी लाज
पकड़े रही स्वर-साज
जाते उधर थे पैर
जग जिधर था निर्वैर

ताड़ित हो अपने ही जल से
ढह जाता सरिता का तट है
अपनों की तीव्र उपेक्षा सह
यह खड़ा रहा अक्षयवट है !

विष के मिस था पीयूष पिया
जीवन यूँ ही न बना अब तक !
हैं बज्र-बिजलियाँ टूट चुकीं,
नीलाभ गगन न छुना अब तक !

माँ की ममता का क्या कहना,
सह सकीं आप जितना माता !
उच्छ्वास छोड़ मैं थी कहती:
दुख देने वाला भी दाता !

× × × ×

निर्द्वन्द्व रही मैं तो सब दिन
सर्वेन्दिय - रस्य लोक - जीवन
क्या सुना, कहा, कुछ ज्ञात नहीं,
अश्रव्य, अदृश्य कोक - जीवन

प्रिय पा न हर्ष से नाच उठी
उद्विग्न हुई कब अप्रिय से ?
अपने पर हँस, दृग छलका कर
सुर-सुख समझा केवल हिय से !

संकल्प-विकल्प न भूला मन,
मन्दिर रख बन्द जला तनु तन—
निशिभर प्रदीप-सा, निःस्पन्दन,
नैवेद्य किसी का यह जीवन !

क्या धूप छाँह से खेल रही ?
पंछी फुनगी से टेर रहा !
तन सहला पवन विमन वहती,
मन गगन बहलने हेर रहा।

मैं किसे शाप - वरदान कहूँ
रच दृष्टि - भेद हँसता जीवन
मन किसे उजाले कौतुक वश,
रच तिमिर गहन धँसता जीवन

× × × ×

मङ्गलमय, सुन्दर या दारुण
जीवन न लोमहर्षण होता;
उच्चरित वचन हो सूनृत, मन—
निर्दोष, अमृत वर्षण होता !

अग-जग से कटे, अकेले का
दुख ही होता जीवन-सङ्गी,
सुख है अनुभव हल्का-फुल्का,
वह नहीं अङ्ग अथवा अङ्गी !

गजदन्तमयी शिविका सुन्दर,
आदित्य - तुल्य तेजस्वी रथ
सब कन्याएँ जो पा सकतीं
अथ ही होता जीवन का पथ !

कुछ लुट जातीं, कुछ बिक जातीं,
बलि होतीं कुछ कुलीनता पर;
सौ सौतों में न्योती जातीं
मर मिटने ऋद्ध दीनता पर !

"झूठे ढकोसले बाँधे तो—
जी भरा बाल विधवाएँ गढ़ ?
वर्षों का बुझा जला जो क्या—
धधकी अन्तर्ज्वालाएँ गढ़ ?

मर्यादा तज पुरुषोत्तम ने
सीता को बचा लिया होता
आँखें अन्धे विश्वासों को—
मिलतीं; न धर्म छलिया होता !

निष्क्रियता की ही प्रगति हुई,
ढोई परम्परा कर बाँधे;
नर ने क्या ढाया नारी पर ?
पुरखों के जर्जर शर साधे !

स्वर बदल गया जग का, युग का,
नारी की नियति नहीं बदली;
बहने को बहती नई हवा,
हिलता न चीड़, कँपती कदली

धुँधला प्रकाश प्रत्याशा का
झकझोर चेतना के तन को—
अब भी है जगा रहा, गहरो—
करुणा में सोए जीवन को !

आगे जागेगी ही नारी
करवटें बदल, जमुहाई ले;
मातृत्व नहीं पिच्छिल होगा
काई-सी काय - निकाई से !

लहरें जीवन की, यमुना मे—
बद होड़, नहीं टकराएगी;
इस पार बाँसुरी की धुन सुन
मृगियाँ उस पार न धाएँगी !

कुलबुला रही हैं जल - तल में,
ऊपर, समतल पर, आएँगी,
बाहर की हवा, मछलियाँ भी—
हो निडर, लीक तज, खाएँगी !

आवृत्ति न होगी सीता की—
परिणति की, रसा रसातल हो,
निर्द्धारित मूल्य नए होंगे,
संशोधित अबला का बल हो !

व्यक्तित्व तिरस्कृत-कुण्ठित-सा
होगा न असुन्दर, एकाकी;
खँडहर की आत्मा जनपथ पर
जाएगी अम्बर से ताकी।

बेड़ी, हथकड़ी मुक्ति-पथ की, —
माँ—परमात्मा को माया कह !
माँ के जाए हैं ब्रह्म बने :
है हाड़-चाम की काया वह !

आँखों - आँखों में बन्द रही
निस्पन्द मन्द छवि नारी की
खुल कर सुगन्ध फैलाएगी
अब वह केसर की क्यारी की !

सम्पूर्ण समर्पण मन बनता,
आकर्षण तन का भ्रम होगा,
आनेवाला युग थकन नहीं,
बौद्धिक विकास का श्रम होगा !

अतिशय प्रकाश भी तम होता—
जग के अनुभव में आएगा;
भटकाव न मन का कम होगा,
तन कर यथार्थ पछताएगा !

प्रत्येक सूक्ष्म हो स्थूल रहे,
आत्मा कुतर्क की मृगया हो ?
है स्वप्न सत्य की परछाईं,
क्यों प्रेम-पराजित विजया हो !

संसार न हारा प्रेम लुटा,
है हेम जुटा कर क्या जीता ?
उँगली नैतिकता पर न उठा,
है रोदन-राग नहीं गीता !

माथे पर चन्द्र अमृत-निर्झर
रे गरल गले में गलता रह !
शिव होते शशि-शेखर पहले,
सुन्दर, अहि-दृग-सा जलता रह !

जनमा प्रकाश में सूरज के,
चन्दा की किरण सहेज बढ़ा;
क्यों अन्धकार संसार हुआ ?
क्यों नहीं तिमिर पर तेज चढ़ा ?

सिर पर स्वर्गङ्गा की धारा,
सिर में ज्ञानाग्नि धधकती है;
शिव समशीतोष्ण हुआ करते,
शीतल सुन्दरता जलती है !

खुरदुरे रहे नर, नारी की—
छेनी से गढ़ कर सुन्दरता;
पाषाणी अहरह सह पीड़ा
ढह ढली, हो गई कोमलता !

× × ×

त्रेता - द्वापर के सन्धि-समय
थे परशुराम ने कुण्ड भरे;
वह रक्तकुण्ड पाँचों पावन,
जग कुरुक्षेत्र में स्नान करे !

है चाल काल की परिवर्तन,
उल्टा-सीधा कुछ हो जाए;
हो पुत्र आपका राजेश्वर,
पुत्री वन में रो खो जाए !"

रो पड़ीं यशोमति, मन मारुत—
गति उड़ा, तुड़ा कर भव-बन्धन;
रवि-किरण करे तम को पावन
सोने का कल्मष दहे दहन !

—"कालिन्दी-कूल, कदम्ब, कहीं—
लकुटी, कामरिया चर्चित हैं
माँ मुझ, तुम्हें कह शक्ति परा,—
वृन्दा की गलिया अर्चित हैं !

'गोपाल लाल ने ब्रज-रज को
कुङकुम-चन्दन से बढ़ा दिया
पी कर छछिया भर छांछ, जलधि—
सब की आखों पर चढ़ा दिया!

सांसों में जकड़ी-सी कड़िया
जी को न टूटने देती हैं;
ली पहन चांदनी धुली-धुली,
तम से न छूटने देती है!

कोंपल के सपने सजे हुए
लू की झुलसी-सी डाली में,
दिखता नित मोरपखा फहरा
आंखों की पुतली काली में!

ढुलकाया दूध-दही हँस कर,
चख लिया किसी का भी माखन,
पनघट पर नटखटपन न किया,
भागा क्यों बशीवट, मधुवन?

ये खेल खेलनेवाला ही
जब तब आंखों में आया है,
उसका कब अता-पता पाया
जिसने जग को भरमाया है!

वह कहता रहा उलट बांसी
अपने मुँह में ब्रह्माण्ड दिखा;
मैंने भी अबच, अनिर्वच को
सच मान लिया, क्या दिया सिखा:

"केवल मैं था जब सृष्टि न थी,
मैं हूँगा, हो भी महाप्रलय;
है जहां सृष्टि का नाम नहीं,
में ही मैं वहां अलख, अक्षय!

हूँ दृश्यमान मैं विश्व स्वयं;
ग्रह-मण्डल में यों राहु-सदृश—
दिखता न सभी को, शेष-फणा—
फैली मेरी सौ - बाहु - सदृश !

सब ठौर सब समय केवल मैं,
हो नाम - रूप जितने फैले
यह तत्त्व जान जाते बुध जन
करते न कभी भी मन मैले !

'दीये न जलाते नाकों पर
गुण नहीं छाँदते गुणियों के;
गिनगिन कर पैर नहीं रखते,
पथ खुले महाजन-मुनियों के !

आनन्द और वेदना जुड़ें,
जीवन - प्रासाद खड़ा हो तब;
जब अश्रु-रक्त से सिन्धु भरे,
छोटों से एक बड़ा हो तब।

हो मूल्य-नाश का दृश्य शिशिर,—
मधुमास न आए पास कभी;
सब खड़े बड़े को कर जोड़े,
छोटे का स्वर्ग उदास तभी !'

राधे, न करो तुम जी छोटा,
छोटे तुम से सब बड़े बड़े;
तप अतुल तुम्हारा, ऋषि-मुनि तुल
मुँह ताका करते खड़े-खड़े !

पीछे छूटीं गौरी, सीता
सब को प्रिय प्रेय; न क्या पाया ?
तुम पहली आपाधापी में
व्यापी न जिसे तन की माया !

तुमने कुछ भी चाहा न यहाँ
क्या मिला, छिना ? लेखा-जोखा—
—रुक कर न लिया; मन मरा, जिया,
दृग,—अरे, भरे ने क्या सोखा ?

ऐसी कोई न हुई, सबको—
सुन्दर तन का था सुख पाना,
तुम, अनुशासित जिसके तन ने
बौडम मन का न कहा माना !"

× × ×

राधा ने काटी जीभ झिझक,
क्या-क्या सोचा करते अपने,
उसके भी अपना बचपन था,
उसके भी अपने थे सपने !

उसका भी माथा गरमाया,
ठंडाए पाँव कि उसके भी
वह खुली धूप-सी हँसती थी,
देती न छाँव को घुसने भी !

उसके भी रोम सिहरते थे,
पुलकित होता था उर-अन्तर
जाता तम सहम आँख लगते,
चाँदनी छिटकती पुतली पर !

थे फिसल पांव जाते स्वप्निल
पथ पर ढीली बिछती काया,
कर झटक, काँप छटपट करती
मरु-तरु की हरिआती छाया।

पिघले-पिघले-से प्राणों को
मैंने पत्थर-सा दिया जमा;
ऊष्मा पर उमड़ाते बादल—
मेरा मन बहुत डरा, सहमा !

अन्तर तक उतरी गन्ध-व्यथा
फूलों - पत्तों को गई पिरो;
धुंधलाई विद्रुम - द्रुम - पाँती,
थी फाँस सांस में : नभ, न गिरो !

सारी चाहों, चेष्टाओं को
जो सञ्चालित करती क्षमता
उस ज्योति सन्मुख को ढकती,
गहरी कुहरी माँ की ममता !

आप्लावित करती प्राणों को
देती उछाल प्रतिमानों को
बदले करवट मां को ममता,
खुलतीं हथेलियां दानों को !

निस्तब्ध गुफा में बन्द हुआ
कल्लोलित जीवन का कल स्वर
कटते-कटते पल-निमिष कटे
सन्ध्या-निदाघ, पतझर-दुपहर !

जड़ हुआ समय झर पंख गए,
मुड़कर, उड़कर फिर आ सकता
अपनी आँखों माँ देख ठहर—
जाती न कृष्ण की उज्ज्वलता ?

सौ बार मरूँ मैं, क्या चिन्ता,
पहचान धरा से हो गाढ़ी;
अपरा के अपनापन से छन
देखूँ कि परा ने छवि काढ़ी

निश्वासों से कलुषित होकर
जो प्राण - वायु ऊपर आती
उस अशुचि अवांछित को तजकर
यदि निराकार मैं हो पाती

कल्पना सत्य होती माँ की
अधखुली सीप को कह मोती;
आंसुओं - भरी अँजुरी अपनी
सपनों की अंगारी होती !

विक्षिप्त प्राण किस ओर बहे !
बैठे - ठाले लेंगे लेखा,
मैं पांव पोंछ कर जाऊँगी
ढूँढ़ेगी छांव रश्मि - रेखा !

स्वीकृति निष्कुण्ठ नहीं देती—
आत्मा, : राधा बावरी हुई
लय में न फूटती, स्वगत, विसुध
सौ सोच-भँवर-भांवरी हुई।

कोई अदृश्य - सा देश जिसे
आस्था कहती है स्वर्ग - नरक
मकड़ी का जाला ग्रन्थिल मन,—
छाती जाती है देख दरक !

देखा उदास मुख नहीं कभी
आंखें स्मृतियों में खोई - सी
खिड़की-खिड़की पर दीप जला
छवि छिपा ढूँढ़ती कोई-सी

फिसलन का व्रण न विहग-पग में,
गोवर्धन ऊँचा कितना है ?
तितली उड़ आई मधुवन में,
संकल्प नहीं कम इतना है !

घर के पिछवाड़े के विरवे
देहरी-द्वार तक झुक आए
दूर्वादल हरे रहे पसरे,
रौंदे भी गए, न मुरझाए !

उड़ते खग का विश्राम गगन,
घोंसला थके का होता है;
सागर सनेह का ज्यों सूखा,
आंसू का फूटा सोता है !

होती अनन्त सान्त्वना नहीं,
निष्ठा का अन्त नहीं होता;
राधा क्यों कोयल-सी कूके
जिस ठौर वसन्त नहीं होता !

अब कोई याद दिलाना मत
राधा वृन्दा बन आई थी;
माता न यशोदा थी हरि की,
अधजली बेल हरिआई थी !

सपनों के पार हुईं आखें
पांखों के पार सपन सारे
अपनापन बढ़ा चढ़ा नभ पर
छूटे, विथुरे, बिखरे तारे !
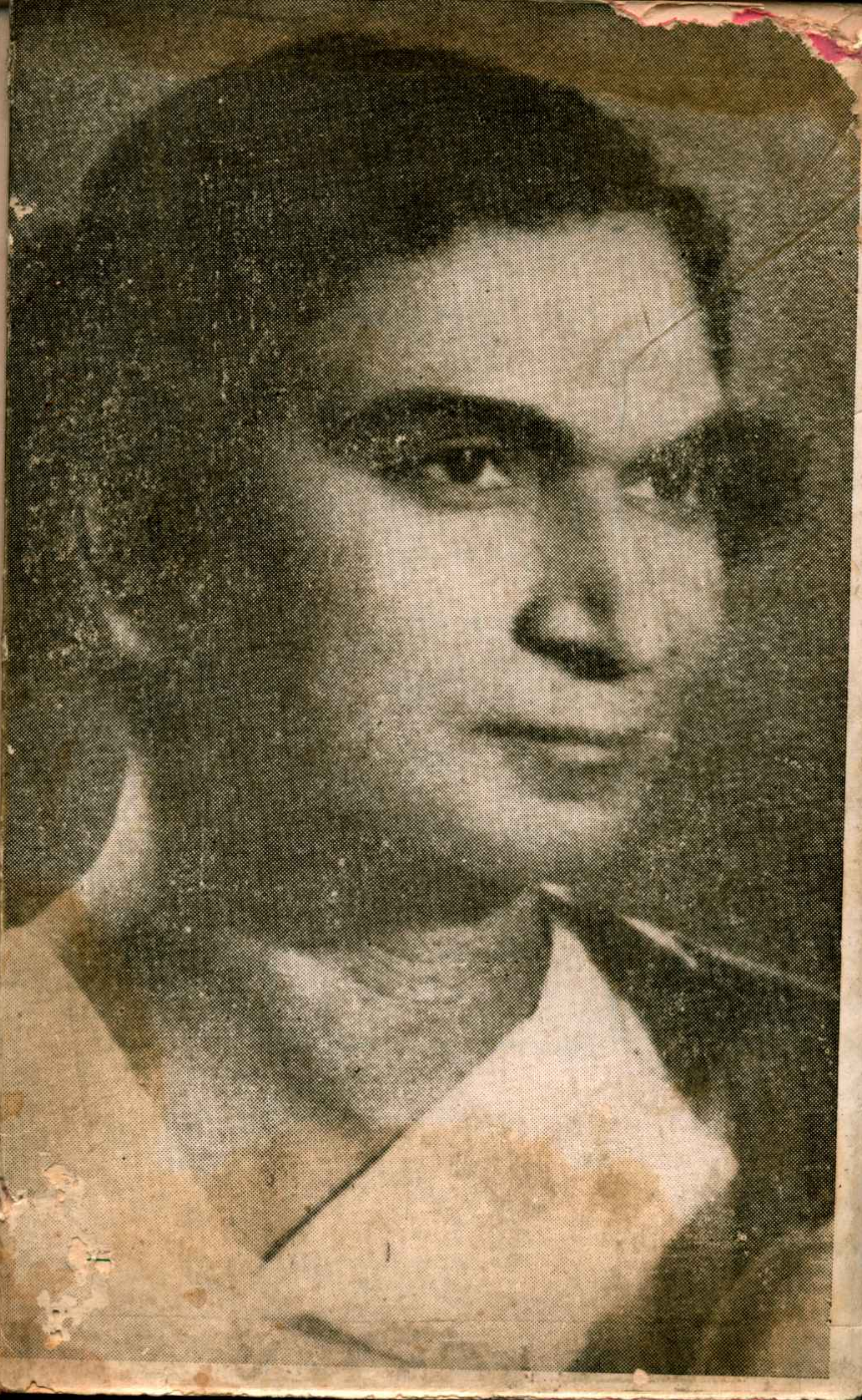
अनसुने बोल ठहरे - ठहरे
अनगुने वचन उतरे गहरे;
धरती परती भी रह सकती,
आकाश - कुसुम फहरे - लहरे !